मन्दिर-प्रवेश

और

अस्पृश्यता निवारण

लेखक

महात्मा गान्धी, डाक्टर भगवानदासजी, पं० देव-नारायण द्विवेदी, पं० रुद्रदेवजी शास्त्री वेद-शिरोमणि, आचार्य पं० इन्दिरारमणजी शास्त्री

प्रकाशक

एस० बी० सिंह ऐण्ड को०

काशी-पुस्तक-भण्डार

बनारस सिटी

प्रथम संस्करण] १९३३ [मूल्य ॥)

पुस्तक-परिचय

आधुनिक समय में अछूतोद्धार का प्रश्न देश में जोरों से छिड़ा हुआ है। प्रातःस्मरणीय म० गांधी अपने प्राणों की बाजी लगाये बैठे हैं। अतः प्रत्येक हिन्दू को इसका असली रहस्य ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से यह पुस्तक जनता के समक्ष उपस्थित की जा रही है। इसमें म० गांधी, डा० भगवानदासजी आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ऐसे अमूल्य विचारों का संग्रह किया गया है जिनसे स्पृश्यास्पृश्य सम्बन्धी सारी बातें पाठकों की समझ में भलीभाँति आ जायँ। इसमें वेदों और उपनिषदों के प्रमाण हैं, धर्म के यथार्थ रूप का दिग्दर्शन है, अछूतों के साथ होनेवाले व्यवहारों का रोमांचकारी वर्णन है, उनकी दयनीय दशा की सुस्पष्ट झलक है और जातीयता के विकृत रूप के दुष्परिणामों का हृदय-द्रावक चित्रण है। पाठकगण एक बार द्वेष-रहित होकर विवेक-बुद्धि से इस पुस्तक का अवलोकन करें, इसी में हमारे उद्देश्य की सफलता है। परिश्रम को सार्थकता है।

२२-१२-३२
काशी

निवेदक
सूर्य्यबली सिंह

विषय-सूची

मन्दिर प्रवेश और अस्पृश्यता निवारण

भारत के हृदय-सम्राट्—महात्मा गान्धी।

प्रार्थना

हे अनाथों के नाथ !

जरा बता तो दो, भक्त की परिभाषा क्या है। हमारा मन-मयूर तुम्हारे पादपद्मों का भक्त बनने के लिए कई दिनों से नाच रहा है। सुनते हैं, भक्त से बढ़कर तुम्हें प्यारा कोई नहीं है। तब फिर बता दो नाथ, भक्त बनने का तरीका क्या है।

हमने तो जीवन भर में केवल एक ही भक्त को जाना है। उसकी जीवन पोथी का पन्ना पन्ना बतलाता है कि—

जिसका कोई न हो, गले से उसे लगावे;
प्राणिमात्र के लिए, प्रेम की ज्योति जगावे;
सब में विभु को व्याप्त जान, सबको अपनावे;
हो जो ऐसा वही, भक्त की पदवी पावे; !

उसने देश के दुख को अपना दुख बना लिया है और भारत के दीन-दलितों को अपनाकर उनके कष्टमोचन का अथक प्रयत्न किया है। हमारी दृष्टि में तो वही जागरुक तुम्हारा सच्चा भक्त है।

जो दलितातिदलित की निष्काम सेवा करे, वही तुम्हारे चरणों के सन्निकट है, वही तुम्हारा प्यारा है। यदि ऐसा न हो तो एक ही दो दिन के व्रत में तुम्हारा आसन क्यों डोल जाता। आप तो क्षीरसागर में, शेष-शय्या पर, भगवती लक्ष्मी के साथ, का आनन्द उठा रहे थे कि "जाग मुसाफिर जाग" की

ध्वनि प्रतिध्वनि सुनकर पांय पियादे धाये। एक ओर से तुम कहते हुए पधारे "हम भक्तन के, भक्त हमारे" और दूसरी ओर से, यरवदा-मन्दिर से वे आलाप उठे "भरोसे राम के-और नहीं कछु काम के" वाह! क्या अच्छी चढ़ा-ऊपरी है।

यह सब जानते हुए भी कि भक्तराज गान्धी पर तुम्हारी रक्षा का हाथ है, हमारा मन न जाने क्यों व्यथित और शंकित है। यह बात है कि उनसे हमें बड़ा प्रेम है, उनका हमें बड़ा सहारा है। सांसारिक प्रेम, में जानते तो हो कि मोह बहुत रहता है। हमारा मन-मानस भी उसी मोह-जाल से ग्रसित है अतएव—

अन्तर मम विकसित कर—अन्तर तर हे,
निर्मल कर, उज्वल कर—सुन्दर कर हे;
जागृत कर, उद्यत कर, निर्भर कह हे;
नंदित कर, निरलस निः—संशय कर हे;
युक्त कर हे सवार संगे मुक्ति कर हे बन्ध,
संचार कर सकल कर्मे शान्त तोमार छन्द;
चरण पद्मे मम चित्त निष्पंदित कर हे;
मङ्गल कर, मङ्गल कर, मङ्गल कर हे! अंतर मम...

हमारा तो सबसे बड़ा मङ्गल तभी होगा जब गांधी अपने व्रत में सफल हो तुम्हारे युगल पाणि से दीर्घ-जीवन का आशीर्वाद पावेंगे।

—दैनिक प्रताप

हरिजन-स्तोत्र

हे परोपकारी हरिजनो ! आपको हमारा नमस्कार है ! हमारी तन्दुरुस्ती की चाबी आपके हाथों है।

हे महानुभावों ! हम खुल्लम खुल्ला आपका अपमान और तिरस्कार करते हैं, फिर भी आप हमारे हिन्दूधर्म का पालन करते हैं। आपको हमारा नमस्कार है !

हे दृढ़ जीवनशक्ति वाले हरिजनो ! आपको हमारा नमस्कार है, क्योंकि बड़ी कठिन परिस्थिति में आप जीवन धारण करके बिताते हैं। जैसी बदबूदार हवा में, जैसी खराब खुराक पर, और जिस भयङ्कर दरिद्रता में आप जी सकते हैं, वैसी अधम स्थिति में दुनियाँ की कोई भी प्रजा वंश-परम्परा तक जीवित नहीं रह सकती। इसलिये आपकी जीवनशक्ति वन्दनीय है !

हे हरिजनो ! आपमें से बहुतों के घरों के पास बदबू फ़ैलानेवाले पाखाने की टोकनियाँ पड़ी हैं, आंगन में हड्डियों के टुकड़े बिखरे हैं, पास ही ढोरों का हाल ही खींचा गया कच्चा चमड़ा सूख रहा है, टूटी फूटी हाँड़ी के टोकरे में पड़े हुए भोजन पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, नये चमड़े की बदबू से खिंचकर आपके घरों के आस पास कुत्ते दौड़ दौड़ा मचा रहे हैं, और ऊपर चीलें, गिद्ध और कौवे मँड़रा रहे हैं। घर के अन्दर मच्छरों का मेहर है, पिस्सू और खटमलों का राज्य है, चूहों का ज़ुल्म है, फूटे हुए बरतन में पोखरे का बदबूदार कीड़ों वाला गन्दा पानी आपने पीने के लिए भर रक्खा है, और खाने के लिए मरे हुए ढोरों का बासी मांस पड़ा है। ऐसे स्थान में ऐसी स्थिति में भी हमारे राम, हमारी पूजा, हमारी देवियाँ और

हमारे महादेव आपके अन्तर में बस सकते हैं, और उनके भजन उनके गुण गाये जाते हैं यह आपकी बलिहारी है। इसके लिए हमारे धर्म-बन्धु के नाते आपको हजारों बार नमस्कार है!

इस दुनियाँ में कुछ काम ऐसे होते हैं कि अगर उनके करने से तिरस्कार होता हो, तो वे खराब माने जाते हैं। हरिजनों की सेवा और सुधार का काम ऐसा है, कि उसमें लोगों को जो तिरस्कार सहना पड़ता है, वह तिरस्कार भी सम्मान रूप है, मङ्गल रूप है। क्योंकि स्वर्ग के देवता इस तरह के गीत गाते हैं—

"प्रभु की सन्तान के खातिर जो तिरस्कार सहते हैं, वे धन्य हैं! अपने नीचे गिरे हुए भाइयों को जो ऊंचे उठाने की कोशिश करते हैं, वे धन्य हैं! धन्य हैं! पथ-भ्रष्टों को, राह-भूलों को जो राह बताते हैं, और इस काम के लिए तिरस्कार सहते हैं, उन्हें धन्य है! धन्य है! गरीबों को गरीबी से छुड़ाने के लिए जो तिरस्कार का स्वागत करते हैं, वे धन्य हैं! धन्य है! रोगियों का रोग दूर करने के लिए जो मूर्खों से अपमानित होते हैं, उन्हें धन्य है! धन्य है!"

क्योंकि धन छोड़ना आसान है, घर का त्याग करना आसान है, जब किसी आवेश में आजाय तो जान दे डालना भी आसान है, लेकिन अनाथों के लिए नीच माने जानेवाले लोगों के लिए और जिनके देश के २५ करोड़ स्त्री-पुरुष तिरस्कार करते हैं ऐसे हरिजनों के लिए समझ बूझकर इरादतन अपनी आत्महानि करना मामूली बात नहीं है। अतएव जो सज्जन ऐसा काम करते हैं, तो कठोर तप तपते हैं, उन्हें धन्य है! दैनिक प्रताप

मन्दिर-प्रवेश और अस्पृश्यता-निवारण

मन्दिर-प्रवेश का महत्व

डाक्टर अम्बेडकर की इस घोषणा के विषय में कि मंदिर-प्रवेश के प्रश्न का इतना महत्व नहीं है कि महात्माजी उसके लिये अपनी जान को जोखिम में डालें, उनका मत पूछने पर महात्माजी ने कहा—"मंदिर-प्रवेश को डाक्टर अम्बेडकर जितना छोटा समझते हैं उतना छोटा मैं उसे नहीं समझता। मेरी राय में वही इस बात के जांचने की कसौटी है कि सनातनी-हिन्दू-समाज के अंतःकरण ने समय की पुकार को सुना या नहीं और वह हिंदू धर्म पर से अस्पृश्यता की कालिमा को धो डालने को तैयार है या नहीं। मेरी समझ से साधारण हिन्दू जनता के, जिनमें हरिजन भी शामिल हैं, मन पर और किसी बात का उतना प्रभाव नहीं पड़ सकता जितना हरिजनों के लिये मंदिरों के द्वार ठीक सवर्ण हिंदुओं के समान ही खुल जाने का। मैं डाक्टर अंबेडकर की इस ओर से उदासीनता का अर्थ समझ सकता हूँ, पर मैं हरिजन वर्ग के मुट्ठी भर शिक्षित व्यक्तियों के विषय में नहीं सोच रहा हूँ, मैं तो करोड़ों निरक्षर मूल प्राणियों के विषय में

सोच रहा हूँ। साधारण हिंदू जनता के जीवन में मंदिरों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। और मैं, जिसने जन्मभर अपने को घोर निरक्षर तथा अत्यन्त दीन-हीन जनता से अपने को मिला देने की कोशिश की है, तब तक कदापि संतुष्ट नहीं हो सकता जब तक अन्त्यजों के लिये भी सारे हिंदू-मंदिर खुल नहीं जाते।

"पर इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं हरिजनों की और बाधाओं को कम महत्व देता हूँ। वे मुझे उतना ही साल रहे हैं जितना डाक्टर अम्बेडकर को। हाँ, मैं यह मानता हूँ कि इस बुराई की जड़ इतनी गहराई को पहुँच चुकी है कि भिन्न भिन्न बाधाओं में से कुछ को मुख्य और दूसरों को गौण मानना ठीक न होगा, किंतु सबको एक साथ ही दूर करने का यत्न होना चाहिये।

गुरुवयूर मंदिर का प्रश्न

गुरुवयूर मंदिर का प्रश्न संयोगवश ही मेरे कर्तव्यपथ में आ गया है, पर अब मेरे हाथ-पैर उसके संबंध में पूरी तरह बँध गये हैं। अन्ततः श्री केलप्पन मेरे विचार से देश की मौन सेवा करनेवालों की सबसे ऊँची श्रेणी में स्थान पाते हैं। वे जिस दिन चाहें सार्वजनिक क्षेत्र में गौरव का स्थान प्राप्त कर ले सकते हैं। वे मलाबार के एक प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता हैं। पर उन्होंने सोच-विचारकर अपने को हरिजनों के काम के लिये अर्पण कर दिया है। वाइकोम सत्याग्रह के अवसर पर मुझे उनके साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसके बहुत पहले से वे दलितों, पीड़ितों के उद्धार के काम में लगे हुए हैं। सबको मालूम है कि बहुत दिनों तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के

बाद अन्त में उन्होंने गुरुवयूर का मन्दिर हरिजनों के लिये खोलवाने के प्रयत्न में प्राण समर्पण का संकल्प किया था। तथापि मुझे उनके व्रत में एक दोष दिखाई दिया। मैंने तुरंत ही उसकी ओर उनका ध्यान दिलाया और, यद्यपि उनका विश्वास था कि उनके सामने विजय उपस्थित है, तथापि, उन्होंने मेरी सलाह मान ली, और हाथ में आयी सफलता के चली जाने की परवाह न कर अपना अनशन बंद कर दिया। उसी समय मैंने प्रतिज्ञा कर दी कि तीन महीने बाद फिर उपवास करने की आवश्यकता हुई तो उसमें मैं भी उनका साथ दूँगा। अब यदि मैं केलप्पन को उनके भाग्य पर छोड़ दूँ तो मैं अपने को भारत का अयोग्य सेवक और अयोग्य साथी साबित करूँगा।

अस्पृश्यता या हिन्दू-धर्म एक ही जी सकता है

पर एक साथी के प्राण और मेरे वचन से भी बड़ी एक वस्तु है। हर एक आदमी समझ रहा है कि दलितवर्ग का प्रश्न या तो अभी हल होगा या फिर कभी न होगा—कम-से-कम वर्तमान पीढ़ी के जीवनकाल में अथवा अनेक पीढ़ियों तक न होगा। आज मेरे जैसे हजारों स्त्री पुरुष हैं जो इस विश्वास के कारण हिंदू-धर्म को पकड़े हुए हैं कि उसमें व्यक्ति के मानसिक नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिये काफी मैदान है, पर लगभग ६ करोड़ मनुष्यों के लिये इस प्रकार की रुकावट के बने रहते हमारा दावा सच्चा साबित न किया जा सकेगा। मेरे जैसे विचार रखनेवालों का विश्वास है कि अस्पृश्यता हिंदू-धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसका अतिरिक्त अंश है जो रोग

रूप है; पर यदि यह धारणा गलत हो, हिंदू-जनता का मन वस्तुतः अस्पृश्यता को अपनाये रहना चाहता हो, तो मुझ जैसे सुधारकों के लिये इसके सिवा और कोई गति न होगी कि अपने विश्वास की वेदी पर अपने को बलि कर दें।

मैंने इस ताने को धैर्य के साथ सुना है कि इस प्रकार का उपवास आत्महत्या के समान है। मैं ऐसा नहीं मानता। उलटे गहरी धर्म-निष्ठावाले व्यक्तियों के लिये और सब उपायों का रास्ता बंद दिखाई देने पर, इस चरम बलिदान के सिवा और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता।

हिन्दू धर्म की अग्निपरीक्षा

"अतः मेरे विचार से यह आन्दोलन हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में मेरे दावे की सचाई अग्नि-परीक्षा है। और मैंने जो बात गोलमेज में कही थी वही फिर कह सकता हूँ कि यदि अस्पृश्यता जीती रही तो हिन्दू-धर्म मर जायगा और यदि हिन्दू-धर्म को जीना है तो अस्पृश्यता को अवश्य मरना होगा। और मैं साहस के साथ कहता हूँ कि आज हजारों नहीं तो सैकड़ों स्त्री-पुरुष ऐसे अवश्य विद्यमान हैं जो मेरे और श्री केलप्पन की तरह ही हिन्दू धर्म के इस दावे को सच्चा साबित करने के लिये अपने प्राण अर्पण कर देंगे कि वह कोई संकीर्ण सम्प्रदाय या मत नहीं है, किन्तु एक जीवित धर्म है, जो परम विवेकशील अंतः-करण, गम्भीर से गम्भीर विचारक और धर्मशील से धर्म्मशील व्यक्ति को सन्तुष्ट कर सकता है।"

अस्पृश्यता निवारण

सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह

चिट्ठी लिखनेवालों ने पूछा है कि क्या सहभोज और अंतर्जातीय विवाह अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन का अंग है। मेरी राय में नहीं है। इनका सवर्णों से उतना ही संबंध है जितना अवर्णों से। इसलिये अस्पृश्यता विरोधी कार्य करनेवाले के लिये यह आवश्यक नहीं कि सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह के सुधारों में लग जाय व्यक्तिगत रूप से मेरी राय है कि यह सुधार अनुमान से पहले हो रहा है। सहभोज या अन्तर्जातीय विवाह का निर्वन्ध हिन्दू धर्म का अंग नहीं। यह एक खास प्रथा है जो हिन्दू धर्म में शायद उस समय घुस आयी जब उसका ह्रास हो रहा था और समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिये यह चलायी गयी। ये बंधन ढीले पड़ रहे हैं। इन पर जोर देने से जीवन की उन्नति के लिये आवश्यक मूल सिद्धांतों से जनता का ध्यान हट गया है।

इसलिये जहाँ कहीं लोग अपनी खुशी से ऐसे कार्यक्रम में भाग लेते हैं वहाँ स्पृश्यों और अस्पृश्यों, हिन्दुओं और अहिन्दुओं को भोजन पार्टियों के लिये निमंत्रण मिला हो तो मैं इसे अच्छा लक्षण समझ कर इसका स्वागत करता हूँ। पर यह कितना ही वांछनीय क्यों न हो, मैं इस सुधार को उस भारतव्यापी सुधार का अंग बनाने का कभी खयाल भी न करूँगा जो इसके पहले ही हो जाना चाहिये था। अस्पृश्यता, जिस रूप में हम उसे देखते हैं, यह घुन है जो हिन्दू

धर्म के प्राणों को ही खा रही है। खान-पान और विवाह के बंधनों से हिन्दू समाज की बाढ़ रुकती है। मैं समझता हूँ कि यह अंतर मौलिक है। आंदोलन के प्रचंड वेग में इसे बहुत अधिक महत्व देना और इस प्रकार मुख्य प्रश्न को ही बिगाड़ देना मूर्खता होगी। जनता से यकायक यह कहना कि अस्पृश्यता निवारण के कार्य को उससे भिन्न दृष्टि से देखो जिससे देखना उन्हें सिखाया गया है, जनता के साथ विश्वासघात भी हो सकता है। इसलिये जहाँ जनता तैयार हो वहाँ भले ही सहभोज हों पर इसे भारत व्यापी आंदोलन का अंग न बनाना चाहिये।

सनातनी होने का दावा

मुझे अपने को सनातनी कहनेवालों की ये चिट्ठियाँ मिली हैं। कुछ में क्रोध भरे शब्द हैं। इनके लिये अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का सार है। कुछ मुझे धर्मत्यागी समझते हैं। कुछ का खयाल है कि मैंने क्रिश्चियन तथा इस्लाम धर्मों से अस्पृश्यता आदि के विरोधी विचार ग्रहण किये हैं। कुछ ने अस्पृश्यता का प्रतिवाद करते हुए वेदों के प्रमाण दिये हैं। इन सबको इस वक्तव्य में उत्तर देने का मैंने वचन दिया है। इसलिये चिट्ठी लिखनेवाले इन लोगों को यह बताने का साहस करता हूँ कि मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ स्पष्ट ही सनातनियों की परिभाषा मेरी परिभाषा से भिन्न है। मेरे लिये सनातन धर्म वह प्रधान धर्म है जो पीढ़ियों से चला आ रहा है, जिसका अस्तित्व इतिहास काल के भी पूर्व था और जिसका आधार वेद तथा उसके बाद लिखे गये ग्रंथ हैं। मेरे लिये वेद, ईश्वर और हिन्दू-धर्म समान अनिर्वचनीय हैं।

यह कहना केवल आंशिक सत्य है कि वे वेद चार ग्रंथ हैं जो छपे हुए मिलते हैं, ये ग्रन्थ अज्ञात द्रष्टाओं के उपदेशों के अवशेष हैं। इन मूल निधियों को बाद की पीढ़ियों ने अपनी बुद्धि के अनुसार बनाया। फिर उस महान तथा उच्चमना पुरुष गीता के निर्माता का जन्म हुआ। उन्होंने हिन्दू-धर्म का समन्वय करके हिन्दू संसार के सामने उपस्थित किया। यह अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक भाव से भरा हुआ होने पर भी एक सरल जिज्ञासु इसे आसानी से समझ सकता है। अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले हर हिन्दू के लिये यह पुस्तक खुली है। यदि अन्य सब धर्म-ग्रंथों की राख हो जाय तो भी इस अमूल्य पुस्तिका के ७०० श्लोक यह बताने के लिये काफी हैं कि हिन्दू-धर्म क्या है और उसके अनुसार किस प्रकार रहना चाहिये। मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ क्योंकि ४० वर्षों से मैं इस ग्रंथ के उपदेशों के अनुसार रहने का प्रयत्न करता आया हूँ। इसके प्रधान विषय से जो बातें विपरीत हैं उन्हें मैं छोड़ देता हूँ किसी धर्म या उपदेशक से उसका विरोध नहीं। मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ यह कह सकता हूँ कि मैंने बाइबिल, कुरान, जिंद अवस्ता, तथा संसार के अन्य धर्म-ग्रन्थों का उतनी ही भक्ति के साथ अध्ययन किया है जितना गीता का। इस भक्ति-पाठ से मेरा गीता पर का विश्वास दृढ़ हो गया है। इनसे मेरा दृष्टिकोण और साथ ही मेरा हिन्दू धर्म भी व्यापक हो गया है। जोरोस्टर, जीसस और महम्मद के जीवन-चरित्रों को मैंने जैसा समझा है उससे गीता के कितने ही अंशों पर प्रकाश पड़ा है। इसलिये इन सनातनी मित्रों ने मुझे ताना देने के लिये जो कुछ

कहा है वह मेरे लिये संतोष की सामग्री बन गयी है। मैं हिन्दू कहाने में गर्व करता हूँ क्योंकि मुझे यह शब्द इतना व्यापक जान पड़ता है कि यह समस्त भूमण्डल के पैगम्बरों के पैगामों के प्रति न केवल सहिष्णुता का भाव प्रकट करता है वरंच इन्हें अपने अंदर शामिल भी करता है। जीवनशक्ति देनेवाले इस ग्रन्थ में मुझे अस्पृश्यता के लिये कहीं प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत यह मेरी बुद्धि को अपील करके तथा मेरे हृदय को इससे भी गंभीर अपील करके तथा अपनी आकर्षण शक्ति तथा भाषा से यह मुझे विश्वास करने को लाचार करता है कि प्राणिमात्र एक हैं, सब ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं तथा उसीके पास जावेंगे। उस आदरणीय माता ने जिस सनातन धर्म की शिक्षा दी है उसके अनुसार जीवन बाह्य विधि-विधानों से बना हुआ नहीं है पर आत्यंतिक शुद्धता और अपने आपको शरीर, आत्मा और मन से परब्रह्म में मिला देना ही जीवन है। मैं गीता का यह संदेश लेकर लाखों की संख्या में एकत्र जनता के पास गया हूँ और उन्होंने मेरी बात सुनी। मुझे पूरा विश्वास है कि उन्होंने मेरी राजनीतिक बुद्धिमानी या भाषण-चातुर्य के कारण मेरी बात नहीं सुनी पर उन्होंने इसलिये मेरी बात सुनी कि उन्होंने सहज ही पहचाना कि मैं उन्हीं में से एक हूँ, उन्हीं के धर्म का आदमी हूँ। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये मेरा यह विश्वास दृढ़ होता गया कि सनातन धर्म का दावा करने में मैं भूल नहीं कर सकता और यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो वह मुझे इस दावे पर अपनी मृत्यु से मुहर लगाने देगा।

एक पत्र-प्रेषक, यद्यपि वे सुशिक्षित हैं, लिखते हैं कि हरि-

जनों के सवर्ण हिन्दुओं की बराबरी का दरजा पाने के पहले उन्हें इसकी पात्रता प्राप्त करनी होगी, अपनी गन्दी आदतें, और मुरदार खाना छोड़ना होगा। एक दूसरे सज्जन यहाँ तक फरमाते हैं कि जो भंगी चमार गंदे माने हुए धन्धों से जीविका कमाते हैं उन्हें वे धन्धे छोड़ देने चाहिये। ये आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि हरिजनों में जो बुरी आदतें दिखाई पड़ती हैं, सवर्ण हिन्दू ही उनके लिये जिम्मेदार हैं। उच्च कहाने वाली जातियों ने उन्हें साफ-सुथरे रहने की सुविधाओं से वंचित कर दिया तथा इसके लिये कोई प्रोत्साहन भी न रहने दिया।

भंगी और चमार का काम अन्य बहुतेरे धन्धों से अधिक गन्दा नहीं है, अलबत्ता ये धन्धे गन्दे तरीके से किये जा रहे हैं पर यह भी तो उच्च जातियों की घमण्ड भरी उपेक्षा और अपराध के दरजे तक पहुँच जानेवाली लापरवाही का ही परिणाम है। प्रत्येक माता अपने बच्चे की मेहतरानी होती है और आधुनिक चिकित्साशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी चमार का काम करता है, इसलिये कि उसे आदमी की लाश चीरनी और उसकी खाल उतारनी पड़ती है। पर उनके धंधों को हम पवित्र कार्य मानते हैं। मेरा कहना है कि साधारण भंगी और चमार का धंधा भी माताओं और डाक्टरों के कार्यों से कम पवित्र और कम उपयोगी नहीं है।

हरिजनों को इसी रूप में अपनाओ

सवर्ण हिन्दुओं का यह समझना अनुचित होगा कि वे हरिजनों पर अनुग्रह कर रहे हैं जो कुछ भी वे इस समय हरि-

जनों के लिये कर रहे हैं वह उनके प्रति पीढ़ियों से किये हुए पापों का बहुत देर से किया हुआ स्वल्प प्रायश्चित्तमात्र है। हमें उन्हें वर्तमान रूप में ही स्वीकार करना होगा और यह हमारे पूर्वकृत पापों का समुचित दण्ड होगा। पर निश्चय जानिये कि हमारा निस्संकोच भाव से आलिंगन के लिये उनकी ओर अपने हाथ बढ़ाना ही उन्हें साफ-सुथरा रहने की प्रेरणा करने को काफी होगा और सवर्ण हिन्दू अपनी ही सुख सुविधा के विचार से साफ रहने की सुविधाएँ उनके लिये प्रस्तुत कर देंगे।

हरिजनों पर हमारे अन्याय

हरिजनों पर हमने कैसे-कैसे अन्याय कर रखे हैं, इसे याद कर लेना अच्छा होगा। सामाजिक दृष्टि से हरिजनों की हैसियत वही है जो कोढ़ी की है। आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति गुलामों से बदतर है। धर्माचरण के सम्बन्ध में यह हाल है कि उनका उन स्थानों में प्रवेश तक निषिद्ध है जो व्यर्थ ही भगवान् के स्थान कहे जाते हैं। सड़क, पाठशाला, कुँआ, अस्पताल, बम्बा, सार्वजनिक बाग-बगीचों आदि का उपयोग वे उसी तरह नहीं कर सकते जिस तरह सवर्ण हिन्दू कर सकते हैं। कहीं कहीं तो सवर्ण हिन्दू से कुछ नियत फासले पर उनका पहुँच जाना भी अपराध है! रहने के लिये उन्हें नगर और गाँव के सबसे खराब हिस्से में जगह दी जाती है, जहाँ वे एक प्रकार से नाई धोबी आदि की सुविधा से सर्वथा वंचित होते हैं। ऊँची जाति का वकील अथवा डाक्टर वैद्य उसी तरह उनकी सहायता न करेगा जिस तरह समाज के अन्य लोगों की करता है। आश्चर्य तो

यह है कि इतना सब होते हुए भी वे जीवित हैं और हिन्दू धर्म के नाम लेवा-बने हुए हैं। वे इस तरह कुचल दये गये हैं कि कुचलने वालों के साथ लड़ने के लिये उठ नहीं सकते। इन दुःखद और लज्जाजनक बातों को दुहराने का मतलब यह है कि कार्यकर्ता पूना के समझौते का अर्थ साफ तौर से समझ लें। लगातार प्रयत्न करके ही इन दलित भाइयों को ऊपर उठाना, हिन्दू-धर्म को शुद्ध करना और फिर संपूर्ण हिन्दू-जाति तथा उसके साथ संपूर्ण भारत को ऊपर उठाने का काम किया जा सकता है, और किसी तरह ये बात होने की नहीं।

अन्यायों की इस साधारण उद्धरणी से हमें स्तब्ध न हो जाना चाहिये। यदि उपवासवाले सप्ताह में किये गये प्रदर्शन सवर्ण हिंदुओं के सच्चे पश्चात्ताप के निदर्शन थे तो सब अच्छा ही होगा और शीघ्र ही हरएक हरिजन स्वतंत्रता के सुखद स्पर्श का अनुभव कर लेगा। पर इस परम अभीष्ट फल की प्राप्ति होने के पूर्व स्वतंत्रता का संदेश दूर से दूर बसे हुए गाँवों तक पहुँचाना होगा। वस्तुतः गाँवों का काम नगरों की अपेक्षा, जहाँ लोकमत शीघ्र संघटित कर लिया जा सकता है, कहीं अधिक कठिन है।

कार्यकर्ताओं के प्रति

अब अखिल भारत अस्पृश्यतानिवारण संघ बन चुका है और कार्यकर्ताओं को चाहिये कि संघ से मिलकर कार्य करें। यहाँ मैं उस बात को दुहराना चाहता हूँ जो डाक्टर अम्बेडकर ने मुझसे कही थी। उन्होंने कहा था—"अब उस पुराने ढंग से

कदापि काम न होना चाहिये जिसमें सुधारक यह माना करते थे कि पीड़ित वर्ग की आवश्यकताओं को जितना हम समझते हैं उतना वह स्वयं नहीं समझता"। और फलतः उन्होंने और कहा—"अपने कार्यकर्ताओं को ताकीद कर दीजिये कि हरिजनों की सबसे बड़ी आवश्यकता क्या है और यह किस तरह पूरी की जा सकती है, इसको उन्हीं के प्रतिनिधियों से पूछ कर मालूम करें। साथ बैठकर मिठाई खाना अच्छा प्रदर्शन है, पर उसका अतिरेक हो सकता है। इसमें कुछ अनुग्रह करने का भाव है। मुझे खुद कोई इसके लिये बुलावे तो मैं कदापि न जाऊँगा, इससे कहीं अधिक गौरवयुक्त प्रकार यह होगा कि बिना किसी तरह का हो-हल्ला मचाये हमलोग साधारण सामाजिक अवसरों पर निमंत्रित किये जायँ। मंदिर प्रवेश का कार्य भी, यद्यपि वह अच्छा और आवश्यक कार्य है, पीछे के लिये छोड़ा जा सकता है। सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हरिजनों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाय और नित्य के संबंध में उनके साथ भद्रता का व्यवहार किया जाय।" उन्होंने अपने निज के अनुभव से जो कतिपय हृदयविदारक बातें सुनायी थीं उनको मैं यहाँ न दुहराऊँगा। मेरे मन ने उनके तर्क का बल स्वीकार कर लिया और मुझे आशा है कि इस वक्तव्य को पढ़नेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वीकार करेगा।

कुछ सलाहें

सुधारकों ने मुझे कितनी ही सलाहें दी हैं। एक यह है कि प्रत्येक हिन्दू अपने घर में एक हरिजन को रखे और वह सब

प्रकार घर का एक आदमी माना जाय। यह सलाह स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द की है। दूसरी सलाह एक अहिन्दू सज्जन ने भेजी है जिन्हें इस देश के हित की गहरी चिन्ता रहती है। उनकी राय है कि प्रत्येक सम्पन्न हिन्दू गृहस्थ एक हरिजन लड़के वा लड़की को, सम्भव हो तो अपनी ही देखरेख में, उच्च शिक्षा दिलाने का खर्च उठावे और ये शिक्षित युवक-युवतियाँ अन्य हरिजनों के उद्धार कार्य करें। दोनों ही सलाहें विचारणीय और स्वीकार्य हैं। जिन सज्जनों के पास ऐसी कोई उत्तम सलाह हो उनसे मेरा अनुरोध है कि वे उसे नवस्थापित संघ के पास भेज दें। पत्र-लेखकों को मेरी मजबूरियों का ध्यान रखना चाहिये। जेल की चहारदीवारी के भीतर से मैं संघ और जनता को सलाहें देने के सिवा और क्या कर सकता हूँ। योजनाओं को कार्यान्वित करने के काम में मैं शामिल नहीं हो सकता। उन्हें यह भी जानना चाहिये कि मेरी रायें अधूरी और अकसर दूसरों से सुनी सुनायी बातों के सहारे ही कायम की जाती हैं और नयी बातें मालूम होने पर उनमें संशोधन होना सम्भव है, इसलिये उन्हें सावधानी के साथ ही ग्रहण करना चाहिये।

पूने के समझौते के लाभ

यद्यपि पूने का समझौता एक बीती बात है—जो होना था हो चुका—फिर भी मैं उस आपत्ति के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ जो एक लेखक ने उसके विषय में उठायी है और समाचार पत्रों में भी जो बात दबी जबान से कही गयी थी। समझौते के राजनीतिक भाग के विषय में पूछा गया है कि उससे

आपको क्या मिला ? अवश्य ही हरिजनों को उससे बहुत अधिक मिल गया जितना प्रधान मन्त्री ने उन्हें दिया था। निस्सन्देह, ठीक यही इस समझौते का लाभ है। ब्रिटिश सरकार के निश्चय का विरोध मैं इस कारण करता था कि वह हरिजनों को रोटी के बदले ईंट पत्थर देता था। इस समझौते ने उन्हें रोटी के टुकड़े दिये हैं। मुझे तो खुद डाक्टर मुंजे की तरह तब प्रसन्नता होती जब हिन्दुओं के हिस्से की सारी जगहें हरिजनों को मिल जातीं। सवर्ण हिन्दू धर्म के लिये इससे बड़ा लाभ और कोई नहीं हो सकता। मेरा यह सुनिश्चित मत है, नयी बातें मालूम होने से जिसके बदलने की संभावना नहीं, कि दलनकर्ता दलित को जितना ही देते हैं उतना ही लाभ में रहते हैं। उसी अनुपात में उनके सिर से ऋण का भार उतर जाता है, यही उनका लाभ है। सवर्ण हिन्दू जब तक इस प्रश्न को इस विनीत, पश्चात्तापमय और धार्मिक भाव से न देखेंगे, समझौते के शेष अंश का पालन उस भाव से कदापि न हो सकेगा जो उपवास-सप्ताह में हिन्दू समाज में व्याप्त दिखाई देता था।

राजाओं को बधाई

मैं उन राजाओं को बधाई देना चाहता हूँ जिन्होंने अपने राज्य के मन्दिरों के द्वार हरिजनों के लिये खोल दिये हैं और अन्य प्रकारों से भी अस्पृश्यता को अपने राज्यों से निकाल बाहर किया है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि ऐसा करके उन्होंने अपनी और अपनी प्रजा की ओर से थोड़ा प्रायश्चित्त कर लिया है। मैं आशा करता हूँ कि उन राज्यों के हिन्दू इन घोष-

णाओं के वचनों का पालन करेंगे और हरिजनों को इस प्रकार अपना लेंगे कि वे भूल जायँगे कि किसी समय हिन्दू समाज ने उन्हें घृणा के साथ अपने से दूर कर रखा था।

अति सामीप्य के कारण हमारे लिये यह समझना कठिन है कि यह अस्पृश्यता का विष अपनी निर्धारित सीमा से बहुत आगे तक पहुँच गया है और सम्पूर्ण राष्ट्र की जड़ को खोखली बना दिया है। "छुओ मत" का भाव सारे वायुमंडल में व्याप्त है। अतः यदि इस बुराई की जड़पर कुल्हाड़ी छुला दी गयी तो मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही हम जाति-जाति और मजहब के भेद भावों को भूल जायँगे और यह मानने लगेंगे कि जिस तरह समस्त हिन्दू एक हैं उसी तरह सब हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, यहूदी और ईसाई भी एक ही मूल वृक्ष की भिन्न भिन्न शाखाएँ हैं। धर्माचारी बहुत हैं, पर धर्म एक ही है। यही वह शिक्षा है जो मैं चाहता हूँ कि अस्पृश्यता निवारण के आंदोलन से हम सब लोग ग्रहण करें। और यदि हम उसे धर्म भाव तथा अटूट संकल्पपूर्वक चलाते गये तो यह शिक्षा हमें अवश्य प्राप्त होगी।

अस्पृश्यता-निवारण के लिये व्यापक कार्यक्रम

सवर्णों को अनुकूल करने के लिये

प्रचंड वेग से प्रचार किया जाय

प्रत्येक परिवार एक एक हरिजन को अपने यहाँ रख ले

मेरे एक मित्र ने मुझे कितने ही प्रश्नों की एक सूची दी है

जिनके साथ उनके तर्क भी मिले हुए हैं। ये सज्जन एक अस्पृश्यता-निवारक संघ की एक बैठक में शामिल हुए थे। चूँकि श्री वी० आर० शन्दे ने प्रायः इसी नाम की संस्था इसके पहले ही स्थापित की थी इसलिये उसका नाम अधिक सार्थक है—अस्पृश्य-सेवक-संघ रहेगा। मैं उनके महत्व के प्रश्नों को यहाँ देता हूँ।

अछूतों का उद्धार या अपना ?

संस्था आपकी स्वीकृत और अस्पृश्यता निवारण के लिये कार्य करने के उद्देश्य से स्थापित की गयी है। स्वभावतः ही संस्था के कार्यकर्ता आपकी सलाह की आशा रखते हैं। अतः मेरे मन में पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है—क्या कार्यकर्ताओं को सुधारक बनकर अछूतों के उद्धार के लिये कार्य करना चाहिए या स्वयं अपने उद्धार के लिये ? यदि अपने उद्धार के लिये काम करना हो तो क्या उन्हें स्वयं वर्णाश्रमी हिन्दुओं में ही कार्य करने पर सबसे ज्यादा जोर नहीं देना चाहिये ? यदि देना चाहिये तो यह कार्य किस प्रकार किया जाय।

उत्तर—यह एक व्यापक प्रश्न है और मुझे आशा है कि मित्र की मुख्य-मुख्य बातों का जवाब मेरे उत्तर में आ जायगा। मैंने बराबर स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि वर्णाश्रमी हिन्दू ही दोषी हैं और वे अस्पृश्य कहे जानेवालों के प्रति दोषी हैं।

वर्णाश्रमी हिन्दू अछूतों की वर्तमान दशा के लिये दायी हैं। इसलिये ज्योंही वे अपने पाप के लिये पश्चात्ताप करेंगे और अस्पृश्यों के कंधों पर से अस्पृश्यता का बोझ दूर कर देंगे त्योंही हमें अछूतों में पूर्ण परिवर्तन दिखाई देगा। मैं यह नहीं कहता

कि वे अपनी पुरानी आदतों को एकदम छोड़ने का यत्न करने लगेंगे और जहाँ तहाँ सैकड़ों वर्णाश्रमी हिन्दू इन आदतों को छुड़ाने में उनकी मदद करेंगे यह उस प्रकार है जैसे किसी परिवार के दलित सदस्य दलन करनेवाले सम्बन्धियों से फिर मिल जाते हैं और ऐसा करते समय उन्हें पुनर्मिलन का आनन्द होता है तथा दलन करनेवालों को उन्हें अपनाते समय जान पड़ता है मानों वे कभी उनसे अलहदा नहीं हुए थे।

मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसा पुनर्मिलन होने के लिये कुछ समय लग जायगा पर जब तक हममें से उदारमना कार्य-कर्ताओं में से भी कुछ लोग ठीक-ठीक भाव को समझकर ग्रहण नहीं कर लेते तब तक यह मिलन कभी न होगा।

मैंने यह मत प्रकट किये जाते हुए अकसर सुना है कि अस्पृश्यता तभी दूर करनी चाहिये जब हरिजन अपनी बुरी आदतें छोड़ दें, स्वयं शिक्षित हो जायँ, साफ-सुथरा रहने लगें पर वे बिलकुल भूल जाते हैं कि जब तक वे अस्पृश्य बने हुये हैं तब तक उनकी इच्छा होते हुए भी हरिजन ये बातें कर नहीं सकते। वे यह भी भूल जाते हैं कि कुछ हरिजनों से जो अच्छे ढंग से रहते हैं, वर्णाश्रमी हिन्दू बराबरी के नाते नहीं मिलते और उनमें जो श्रेष्ठ व्यक्ति हैं उनका वर्णाश्रमी हिन्दुओं के साथ जो रोज सम्बन्ध होता है उसमें वे जीवन के सामान्य सुखों से वंचित किये जाते हैं। कठोर सेवा करने का दंड आजीवन भोगते रहने का कारण स्वयं उनका जन्म है और रहन-सहन बदलने से या किसी दूसरे कारण से वे इससे छुटकारा नहीं पा सकते। इसलिये अधिक अच्छे ढंग से जीवन बिताने के लिये

न कोई प्रेरणा मिलती है, न मिल सकती है। इस भाव ने उनके मन में जड़ जमा ली है कि कम-से-कम वर्तमान जन्म में मुक्ति की आशा नहीं कर सकते।

सर्व-प्रथम कार्य

इसलिये यह बुराई दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि मनुष्य के नाते अपने पद का गौरव उन्हें समझा दिया जाय। वर्णाश्रमी हिन्दुओं का यह पहला कर्तव्य है कि वे उन्हें अपना समझकर उठावें और तब ही व्यापक रूप से उनकी अवस्था में कोई परिवर्तन हो सकता है। इसलिये सबसे पहला कार्यक्रम यह होना चाहिये कि सवर्णों को अनुकूल और शिक्षित करने के लिये प्रचण्ड वेग से प्रचार किया जाय। यह कार्य प्रत्येक स्थान में बराबर जाकर और देश को इस विषय के साहित्य से भर देकर किया जा सकता है।

मेरी राय से असत्य के समान अस्पृश्यता भी स्वयं-सिद्ध पाप है। इस कथन का समर्थन करने के लिये शास्त्रों की आवश्यकता नहीं। तथापि ऐसे पंडितों का भी एक दल है जो केवल जन्म के ही कारण अस्पृश्यता को उचित सिद्ध करने के लिये शास्त्रों की शरण लेते हैं, इसलिये उचित साहित्य से लैस रहना कार्यकर्ताओं के लिये लाभदायक ही होगा। शास्त्रों में पारंगत ऐसे लोगों का दल बढ़ता ही जा रहा है जिसका दृढ़ मत है कि आज अस्पृश्यता के सम्बन्ध में जो विश्वास है और जिस प्रकार उसका पालन किया जाता है उसके लिये शास्त्रों में कुछ आधार नहीं।

इस प्रकार का प्रचार-कार्य केवल ऐसे ही कार्यकर्ताओं को सौंपा जा सकता है जो अपनी शांति खो नहीं देते, जो अपमानों से शीघ्र उत्तेजित नहीं हो जाते, जो विरुद्ध पक्ष के तर्कों को धीरज से सुन लेते हैं और जिनको इनका उत्तर देने के लिये काफी बुद्धि है।

धार्मिक सुधार के आन्दोलन में किसी भी रूप में बल-प्रयोग के लिये कुछ भी स्थान नहीं। यदि स्वयं जाकर समझाने बुझाने से यह पता लगे कि अधिकांश हिन्दू अस्पृश्यता को पाप नहीं समझते या उनका ऐसा खयाल न होने पर भी वे इसे दूर करने तथा हरिजनों के पद को ऊँचा उठाने के विरोधी हैं तो सुधारकों को निरुपाय होकर चुपचाप बैठ जाना होगा। ऐसी दशा में बहुमत पर क्रोध किये बिना उन्हें स्वयं कष्ट उठाकर यह बता देना होगा कि वे ही ठीक मार्ग पर हैं और बहुमत गलत मार्ग पर। हरिजनों का पक्ष ग्रहण कर तथा अपनी इच्छा से उन अधिकारों और सुविधाओं को ठुकराकर जिनसे आज हरिजन वंचित हैं, वे यह कार्य अच्छी तरह कर सकते हैं। अनेक पुरुषों और महिलाओं के आत्मत्याग-पूर्ण ऐसे कार्य से ही हरिजनों में आशा संचरित होगी और वे अपनी ही दृष्टि में ऊँचे उठ जायँगे तथा आत्मसुधार का यत्न करने के लिये उन्हें प्रोत्साहन मिलेगा।

प्रत्येक घर में एक एक हरिजन

अत्यन्त प्रभावकारी कार्य जो सवर्णों में किया जा सकता है वह है कि वे इस बात के लिये राजी किये जायँ कि कम-से-

कम प्रत्येक परिवार में एक-एक हरिजन कुटुम्ब के आदमी की तरह या कम-से-कम घर के नौकर की तरह रख लिया जाय। यह प्राचीन हिन्दू-प्रथा है कि सम्पन्न परिवार कम-से-कम एक मेहमान को खिलाये बिना कभी भोजन नहीं करता। आजकल इसका पालन तो बहुत कम होता है, उल्लंघन ही अधिक होता है। यह कार्य पंच यज्ञों में से एक यज्ञ कहा गया है। यह यज्ञ करने के लिये मैं इससे अच्छा उपाय नहीं सोच सकता कि हम एक हरिजन को अपने साथ भोजन करावें। इससे सहभोज का भ्रम न होना चाहिये। मेरे लिये सहभोज का अर्थ यह है कि उनके साथ खाना जो आपके भोजन को छू सकता हो या जिसके भोजन को आप छू सकते हों। पर एक ही मकान के अन्दर एक दूसरे को छुए बिना साथ बैठकर खाना सहभोजन नहीं।

यदि हरिजनों की अस्पृश्यता दूर हो जायगी तो जिस प्रकार अन्य जातियों के साथ भोजन किया जाता है ठीक उसी प्रकार अपने घर में उनके साथ भोजन करने में कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। इसके सिवा ऐसे सैकड़ों सामाजिक कार्य और विधियाँ हैं जिनमें सवर्ण हरिजनों को कभी निमन्त्रण नहीं देते। उनके ढोर और अन्य पालतू जानवर इनके सुख-दुःखों का साथ दे सकते हैं पर हरिजन नहीं या यदि वे भाग लेते हैं तो ये ऐसे ही अवसर होते हैं जब उन्हें खास तौर से याद दिलायी जाती है कि वे उस कोटि के मानव प्राणी ही हैं जिस कोटि के वर्णाश्रमी हिंदू हैं।

उपकार करना नहीं ऋण चुकाना है

अपना पाप धोने के लिये सवर्णों में किस प्रकार कार्य और

प्रचार करना चाहिये और किया जा सकता है इसके मैंने सिर्फ कुछ उदाहरण दिखा दिये हैं। पर जिस प्रकार किसी परिवार के बहिष्कृत सदस्य की उसके वापस बुलाये जाने के बाद हिफाजत और विशेष रूप से सेवा की जाती है उसी प्रकार सवर्णों को हरिजनों में कार्य करना चाहिये। जब पाप के भाव का उनके मन में वस्तुतः उदय होगा तब वे हरिजनों के पास शिक्षक या दाता के नाते न जायँगे वरंच इस प्रकार जायँगे जैसे कर्जदार अपना ऋण चुकाने के लिये महाजन के पास जाता है और वे इस भाव से उनको और उनके बालकों को पढ़ावेंगे तथा यथासम्भव अन्य उपायों से उनकी मदद करेंगे।

किसी ने मुझे बताया कि यदि यह रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लिया जायगा तो यह बहुत खर्चीला होगा और इसको बहुत अधिक समय लग जायगा जिससे शीघ्र सेवा न हो पावेगी। यदि मुट्ठी भर सुधारक इस कार्यक्रम को हाथ में लेंगे तो ऐसा अवश्य होगा। पर जब यह आत्मशुद्धि के कार्यक्रम का अंग माना जायगा तब इसका स्वरूप ही बदल जायगा। वृक्ष की परीक्षा उसके फल से की जाती है। इसी प्रकार सवर्णों के बदले हुए भाव की परीक्षा भी उसके फल से ही की जायगी। इसलिये यह कह सकना ही उनके लिये काफी नहीं कि हमने दिन भर में आधे दर्जन हरिजनों को स्पर्श किया या हमने एक हरिजन को खिलाया। पर मनुष्य-समाज के इस उपेक्षित अंग की अपनी शक्ति भर सब तरह से मदद करने के लिये उन्हें (हरिजनों के प्रति) अपने नवजात प्रेम के कारण बेचैन हो जाना चाहिये। हिन्दू धर्म की होनेवाली नूतन जागृति के प्रभाव का अनुभव

स्वयं हरिजनों को भी तो होना चाहिये और उन्हें यह अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक सवर्ण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और कार्य में उनके साथ नहीं मिलते। यदि सम्पूर्ण हिन्दू-समाज में जागृति हो जाय तो यह रचनात्मक कार्यक्रम खर्चीला न होगा। स्थानीय स्वयंसेवक अपने अपने स्थान में कार्य करेंगे जिन्हें वेतन की आवश्यकता न होगी। और यदि पूर्णरूप से जागृति न हुई तो इस रचनात्मक कार्यक्रम को सफल बनाना कार्यकर्ताओं का दुहरा कर्तव्य हो जाता है। इसलिए यह कार्यक्रम मंद हो या वेगवान, खर्चीला हो या किफायत का, मुझे सन्देह नहीं कि यह समाज का अंगभूत कार्य होना चाहिये। सब हरिजन बालकों या सब हरिजन रोगियों की, जिन्हें दवा की जरूरत हो, देखभाल करने में समाज समर्थ न हो सके, पर इस दशा में जो कुछ किया जायगा वह फलप्रद होगा और आगे और कार्य होने का विश्वास हो जायगा। इसके सिवा धन की सहायता से यह सूचित होगा कि अपने जमाने की पुकार की ओर वर्णाश्रमी हिन्दुओं ने कहाँ तक ध्यान दिया है।

मन्दिर-प्रवेश का महत्व

इस कार्यक्रम में मन्दिर-प्रवेश सबसे अधिक महत्व की वस्तु है। जब हरिजनों के लिये अगणित मन्दिर खुल जायँगे, तब वे तुरत नवयुग के आरम्भ का अनुभव करने लगेंगे वे इस बात को भूल जायँगे कि किसी समय वे समाज से बाहर कर रखे गये थे। मन्दिरों में जाकर अन्य जातिवालों के साथ मिलने जुलने से अपने आप ही उनकी दृष्टि और रहन-सहन बदल जायँगी। अपनी गंदी आदतों को वे छोड़ देंगे।

पर मुझसे पत्र लिखनेवाले कुछ सज्जन पूछते हैं—"आज इन मन्दिरों का महत्व क्या रहा है? वे अनाचार के अड्डे हैं और उनकी आड़ में सब तरह की बुराइयों का बाजार गर्म रहता है।" मेरे सामने एक कतरन पड़ी हुई है जिसमें एक महिला का पत्र है, जिसमें एक प्रसिद्ध मन्दिर में होनेवाली बातों का वीभत्स चित्र खींचा गया है। मैं नहीं जानता कि कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों के विषय में कही जानेवाली इसे तरह की बातें कहाँ तक सही हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन मन्दिरों की आज वह स्थिति नहीं है जो उनके निर्माण के समय रही होगी। पर मन्दिरों का सुधार एक स्वतन्त्र प्रश्न है और उनकी गिरावट का नाम लेकर हरिजनों के लिये उनके दरवाजे बन्द रखना उचित नहीं हो सकता। और मैं जानता हूँ कि इन मन्दिरों में जानेवाली गरीब जनता के बहुत बड़े भाग को उनके भीतर होनेवाली बुराइयाँ स्पर्श नहीं कर पातीं। इसके सिवा कुछ बड़े-बड़े मन्दिरों के विषय में जो कुछ भी कह लीजिये, गाँवों के मन्दिरों की निश्चय ही यह स्थिति नहीं है। गाँव के मन्दिर ग्रामवासियों के आश्रयस्थान रहे हैं और आज भी हैं। मन्दिर के बिना किसी हिन्दू गाँव का काम चल जाय, इसकी कल्पना करना कठिन है। जन्म, मृत्यु, ब्याह, बरात सभी कामों में मन्दिर एक अत्यावश्यक वस्तु है। अतः मन्दिरों का वर्तमान रूप चाहे जो कुछ भी हो, हरिजनों को उनमें प्रवेशाधिकार अवश्य मिलना चाहिये।

सफाई की पख

पर एक दूसरे सज्जन लिखते हैं कि आपने हरिजनों के

लिये सफाई आदि की कोई शर्त न रखी तो मंदिरों की यों ही गिरती हुई प्रतिष्ठा और भी गिर जायगी। मुझे ऐसी किसी विपद की आशंका नहीं, मैंने इतना ही कहा है कि हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के लिये कोई ऐसी शर्त न रखी जाय जो दूसरे हिन्दुओं के लिये न हो। मैं श्री भगवानदासजी की इस सलाह का हृदय से समर्थन करता हूँ कि स्पृश्यता का आधार जन्म और जाति को न मान कर व्यक्तियों के बाह्य आचरण को मानना चाहिये। भीतरी शौच का नियम न नहीं किया जा सकता, पर बाहरी आचरण का किया जा सकता है। अतः जो लोग गन्दे, असभ्य, या शराब आदि पीकर बदमस्त हों, वे जब-तक साफ सुथरे न हो जायँ तब तक अस्पृश्य माने जायँ। जैसा कि सारी दुनिया के सभ्य-समाज में हरएक आदमी किसी तरह का गंदा काम करते समय अस्पृश्य रहा करता है। पर सफाई और उसी प्रकार की दूसरी चौड़ी दलीलों की आड़ लेकर हरिजनों को मन्दिर में जाने से नहीं रोका जा सकता। वर्णाश्रमी हिन्दुओं पर हरिजनों का जो ऋण चढ़ रहा है वह उन्हें अब अवश्य मिल जाना चाहिये।

अतः सबसे पहला काम यह है कि वे जिस हालत में हैं उसी में अपनाये जायँ, इस विषय में इस सुधार के पहले से जो नियम आमतौर पर सबके लिये हों वही उनके लिये भी रहें, कोई नया नियम न गढ़ा जाय। नये नियम बनाये जा सकते हैं पर हरिजनों का अधिकार इमानदारी के साथ उन्हें दे दिये जाने और उसके सुरक्षित हो जाने के बाद इसके पहले नहीं।

दलित जाति

[एक अत्यंज का क्या कर्त्तव्य है, इसकी व्याख्या करते हुए महात्माजी ने बड़े प्रेम से एक दलित भाई को समझाया है। यह व्याख्या बड़ी ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महात्माजी को अछूत भाइयों की कितनी फ़िक्र रहती है]

एक अन्त्यज क्या करे ?

एक अन्त्यज सेवक लिखते हैं।

"आपके असहयोग आन्दोलन से, पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के दलितोद्धार से, भारत-केसरी लालाजी के अछूतोद्धार से, आर्य-समाज के सुसंगठित प्रचार-कार्य से और हिन्दू महासभा के शुद्धि-संगठन से आज अछूत कहे जानेवाले अन्त्यजों में जागृति पैदा हुई है। बहुत से जगे हैं। उन्हें अपने उद्धार का भान हुआ है। अपने पैर पर खड़े होने के लिये वे तैयार हुए हैं। उनमें स्वाभिमान की भावना पैदा हुई है, नवजीवन आया है। लेकिन फिर भी देहात में आज खुले आम उनका अपमान होता है, उन्हें फ़िजूल दुःख पहुँचाया जाता है। उनका खादी के कपड़े पहन कर सफाई से रहना तक लोगों की आँखों में खटकता है। ऐसी हालत में वे क्या करें, कोई मार्ग बतलाइयेगा ?"

"मैं एक गाँव में गया था। मैं सोलहो आना खादी-भक्त और अन्त्यजों का हितेच्छु ठहरा, इस कारण सीधा अन्त्यजों के मुहल्ले में ही पहुँचा। मुझे वहाँ का वायुमण्डल सुन्दर जान पड़ा। वहाँ के लोग अच्छे दीख पड़े। वहाँ मैंने एक युवक को

शुद्ध खादी की पोशाक में देखा। इस कारण मैंने उसको बुलाया और कहा, 'भाई, मुझे अपने घर ले चलो'। वह मुझे ले गया, लेकिन रास्ते में उसने मुझसे कहा 'आपको मेरे घर पर चलते, वहाँ रहते, संकोच तो नहीं होगा न? मैंने साफ इनकार किया। मैं उसके घर गया। जाते ही पानी मिला। मैंने पानी पिया। देखकर उस युवक के आश्चर्य का पार नहीं रहा। उसने मुझसे कई सवाल पूछे। मैंने उनके जवाब दिये।

'उस युवक ने मुझसे कहा,' मैं हमेशा मन, वचन और कर्म से शुद्ध रहता हूँ। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त का पालन करता हूँ। उनके सिद्धान्त को ही मैं अपना प्राण समझता हूँ। इसके सिवा खादी मेरी अत्यंत प्रिय वस्तु है। चर्खे को तो मैं अपनी 'माया' (धन-दौलत) समझता हूँ। हर रोज सवेरे चार बजे उठता हूँ। शौचादि से निपट कर ऋषि दयानन्द की बतलाई हुई दिनचर्य्या पर अमल करता हूँ। अपनी जाति के किसी भी आदमी के साथ रहना मुझे नापसन्द है। क्योंकि बारबार हर तरह समझाने पर भी उन पर उसका उतना ही असर होता है जितना पत्थर पर पानी डालने का। इससे मैं ऊब गया हूँ और अब इच्छा नहीं होती कि उनके साथ रहूँ। मेरी अन्तरात्मा मुझसे कहती है कि इन लोगों से दूर रहने में ही मेरे जीवन की सार्थकता है। यह सवाल बार बार मुझे उलझन में डालता है। आर्य-समाज एक महान् संस्था है। वहाँ बिना किसी रुकावट के मेरा स्वागत किया जाता है, हम अपनाए जाते हैं। लेकिन हमारे गाँवों में हमारी क्या हालत है? आजकल तो गाँधीजी भी नरम पड़ गये मालूम होते हैं।"

मैं तनिक भी नरम नहीं हुआ हूँ। मैं अपने विचार में जिस मार्ग से अस्पृश्यता को दूर करने की सम्भावना देखता हूँ उस मार्ग से मिटाने में कोई बात उठा नहीं रख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि देश में से अस्पृयता की भावना घोड़े के वेग से भागी जा रही है। मैं रात-दिन कामना तो यह करता हूँ कि वह वायुवेग से चली जाय। और मुझे विश्वास है कि किसी दिन जरूर ही वह वायुवेग से निकल भागेगी। लेकिन तब तक के लिए धीरज की जरूरत है। उक्त पत्र में जिन अंत्यज भाई के उद्गार दिये गये हैं, वे समझ में आवें कैसे हैं, लेकिन फिर भी उन्हें शान्ति से काम लेना चाहिये। इस संसार में सुधारक को सदा से शुरुआत में अकेला रहना पड़ता है। अगर सुधारक को इच्छा करते ही साथी मिल जायँ तो उसके सुधार की ज्यादा कीमत नहीं रह जाय। अस्पृश्यता हमारे देश की एक बहुत पुरानी बुराई है। और फिर इसे धर्म का चोगा पहना दिया गया है। ऐसी बुराई का नाश करनेवाले को शीघ्र ही साथी के मिलने की आशा नहीं रखनी चाहिये। इस दिशा में आज तक जो काम हो सका है, और जितने साथी इसके लिए मिल सके हैं, सो तो केवल प्रभु की कृपा का ही फल है। प्रस्तुत अन्त्यज युवक को इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जो शुद्धि उन्होंने कष्ट द्वारा प्राप्त की है, वह लोगों के लिये नहीं बल्कि उनके अपने लिये है। इस कारण इस शुद्धि में से ही उन्हें शान्ति प्राप्त करनी चाहिये। जो यह मानता है कि लोग उसकी शुद्धि की कद्र करें, वह सच्चा शुद्ध नहीं हुआ है। शुद्धि तो सदा स्वावलम्बिनी होती

है। दूसरे, इन युवक को चाहिये कि वह निराश होकर अन्य अन्त्यज भाइयों को छोड़ न दें। जो लोग सदियों से कुचले जाते रहे हैं। उन्हें तेजस्वी बनते, जागृत होते थोड़ा समय जरूर लगेगा। उनके प्रति तो धीरज और प्रेम की भावना बढ़ाने की जरूरत है। जो शिक्षा और सुविधाएँ प्रस्तुत अन्त्यज भाई को मिली हैं वही सारे अन्त्यज-समाज के लिये भी सम्भव हैं। अतः हमें चाहिये कि हम उनकी उदासीनता को समझ लें। पत्थर के बारे में इन भाई ने एक बात कही है, दूसरी मैं उन्हें याद दिला देता हूँ 'रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निशान।' इस पंक्ति में पहली बात से ज्यादा सत्य है। जब हिमाचल का पानी पत्थरों से टकराता हुआ नीचे आता है तो वे पत्थर सूखे ही नहीं बने रहते बल्कि चूर-चूर हो जाते हैं। प्रेम रूपी पानी से तो पाषाण-हृदय भी पिघल जाता है।

हमारा और उनका कलंक

उड़ीसा की मुसाफिरी बहुत दिनों से मुलतवी चली आती थी, और जब वह आयी भी तो मेरे सन्ताप और जिल्लत को बेहद बढ़ा देने के लिए ही। नजदीक से नजदीक के रेलवे स्टेशन से ३१ मील दूर, बोलगढ़ में मैं दीनबंधु ऐन्ड्रयूज के साथ बैठा बातें कर रहा था। उसी समय सिर्फ एक मैली लँगोटी पहने कमर झुकाए एक आदमी झुकता हुआ मेरे सामने आया। उसने जमीन पर से एक तिनका उठाकर मुँह में डाल लिया, और मेरे सामने साष्टांग लोट गया, फिर उठकर प्रणाम किया, तिनका निकाल कर बाल में रख लिया और जाने लगा। यह

दृश्य देखते हुए मैं तकलीफ से ऐंठ रहा था। यह खत्म होते ही मैंने किसी दुभाषिए को पुकारा और इस भाई को बुलाकर बातें करने लगा। यह बेचारा अछूत था। बोलगढ़ से ६ मील पर रहता था। बोलगढ़ में लकड़ी बेंचने आया था। वहाँ आने पर मेरे बारे में सुनकर मुझे देखने आया था। मेरे पूछने पर कि मुँह में तिनका क्यों लिया था उसने कहा 'कि आपका आदर करने के लिये।' शर्म से मैंने सिर झुका लिया। इस आदर की कीमत मुझे बहुत भारी असह्य जान पड़ी। मेरी हिन्दू भावना को गहरी चोट लगी थी। मैंने कहा, 'मुझे कुछ दोगे?' वह बेचारा एक पैसे के लिए कमर टटोलने लगा। मैंने कहा, 'मुझे तुम्हारे पैसे नहीं चाहिये पर मैं उससे भी अच्छी चीज माँगता हूँ।' उसने कहा 'दूँगा' मैंने उससे पूछ लिया था कि वह शराब पीता था, मुरदार मांस खाता था—बल्कि यह तो रिवाज था।

'मैं तुमसे यह माँगता हूँ कि जबान दो कि दुनियाँ में किसी आदमी के लिये आगे से मुँह में तिनका नहीं लूँगा, यह तो आदमी के लायक काम नहीं है; फिर कभी शराब नहीं पीऊँगा, क्योंकि वह आदमी को पशु बना देती है; मुरदार मांस नहीं खाऊँगा क्योंकि वह हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। और कभी कोई सभ्य आदमी मुरदार मांस नहीं खायेगा।'

उस ग़रीब ने जवाब दिया, 'अगर मैं शराब न पीऊँ और मुरदार मांस न खाऊँ तो बिरादरीवाले मुझे जाति से निकाल देंगे।'

'तब अजात होने की तकलीफ़ सहो, और जरूरत पड़े तो गाँव छोड़ दो।'

इस पददलित ग़रीब आदमी ने वचन दिया। अगर वह

अपनी बात पर अटल रह गया तो उसकी यह भेंट मेरे धनी देशवासियों के दिये धन से अधिक बहुमूल्य होगी।

यह अस्पृश्यता हमारा सबसे बड़ा कलंक है। इसकी जलालत दिनों दिन बढ़ती जाती है।

मगर यह अविस्मरणीय घटना तो उस बड़े भारी शर्म और दुःख का एक अंश भर थी।

अछूतों को याद रक्खो

कोयम्बटूर की आदि द्राविड़ सभा के दिये मान-पत्र के निम्नलिखित अंश को पढ़ते समय मेरे मन में सन् १९२१ के उसी जमाने की याद हो आती है:—

'जब राष्ट्रीय महासभा ने अस्पृश्यता-निवारण को भी अपने मन्तव्यों में शामिल किया, तब हमें आशा हुई थी कि हमारे समाज के ६ करोड़ (अछूत) हिन्दुओं की उन्नति के रास्ते में के सभी रोड़े बात की बात में दूर हो जायँगे। मगर साल के बाद साल बीतते चले गये और इस बात में हमें आशा की एक किरण भी नहीं मिली। शायद इससे लाभ इतना ही हुआ है कि दयावंत सरकार ने सामान्य हुक्म निकाल कर हमारे लिये सभी सार्वजनिक रास्ते, कुएँ और संस्थाएँ खुली कर दीं। मगर पुरानी हालत जरा भी नहीं बदली है। दूसरे हिन्दू हमारी आत्मा से भी घृणा करते हैं। हमलोग मनुष्य और राष्ट्रों के भाग्य-नियंता, परमपिता की पूजा भी मन्दिरों में नहीं करने पाते। हमारे लिये गिर्जाघरों और मसजिदों के दरवाजे बराबर खुले हैं और उनके धर्म-प्रचारक हमारा स्वागत हमेशा करते हैं। हमारे

समाज की बस्ती, चोटियों के भीतर ही या उनके निकट शराब की दूकानें खोलकर सरकार हमारे नवयुवकों को प्रलोभन में डालती है। अगर इन दूकानों के बदले उद्योगशालाएँ खुल जायँ और आबकारी ठेकेदारों के बदले समाज-सेवक लोग हम पर कृपा-दृष्टि डालें, तो हमें जरा भी शक नहीं है कि हमारी दशा बात-की-बात में सुधर जायगी। इसलिये हम आपसे हार्दिक आग्रह करते हैं कि आप हमारी जाति की सर्वनाश से रक्षा के लिये हमारी चेरियों के भीतर या उनके निकट औद्योगिक शालायें खुलवाने में मदद करें।'

राष्ट्रीय सप्ताह में हमें यह देखने की जरूरत नहीं है कि सरकार ने क्या किया और क्या न किया है। किन्तु यह सोचना अनिवार्य है कि हमने क्या किया या नहीं किया है। इसमें तो कोई शक नहीं है कि गोकि अस्पृश्यता के विरुद्ध लोकमत दिनों दिन बढ़ता जा रहा है, सार्वजनिक पुजारियों को अछूतों के लिये सार्वजनिक मन्दिर के दरवाजे खोलने के लिये राजी नहीं कर सके हैं, और न एक भी शराब या ताड़ी की दूकान के बदले औद्योगिक-शाला या विश्रामगृह खोल सके हैं, जहाँ पर उन्हें उस आग भरी शराब के बदले पौष्टिक पेय या स्वच्छ परि-स्थिति में स्वास्थ्यकर वस्तुयें खाने को मिल सकें।

अन्त्यजों के लिए क्या किया है?

'नवजीवन' के एक पाठक पूछते हैं:—'दलितोद्धार और अन्त्यजोद्धार का कार्य किन किन दिशाओं में हो रहा है, कृपा कर अगले 'नवजीवन' में लिखेंगे तो उपकार मानूँगा।

आपसे यह छिपा नहीं है कि अन्त्यजोद्धार की समस्या कितनी जटिल हो रही है। छूआछूत के नाम पर कहे जानेवाले अन्त्यजों की कई तरह बरबादी हुई है, उन्हें तरह तरह के शारीरिक कष्ट सहने पड़ते हैं, उन पर कई अमानुषिक अत्याचार होते हैं, यही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय उन्नति के तत्व को समझ कर अगर कोई अन्त्यज-सेवक की दृष्टि से स्वदेशी खादी के कपड़े पहन कर निकलता है, तो इसी में वह कही जानेवाली उच्च जातियों का अपराधी बनता है, और उसे मार भी खानी पड़ती है। राजनैतिक क्षेत्र में जिस तरह आपने हरि ॐ करके कदम बढ़ाये हैं, उसी तरह उस क्षेत्र में काम करने के लिए भी अगर आप अपने कार्यकर्त्ताओं को नियुक्त कर दें तो मेरी तुच्छ राय में राजनैतिक क्षेत्र में कामयाबी हासिल करने के लिये या सुलझी हुई समस्या भी एक बड़ी उपयोगी चीज बन जायगी।

फिल हाल आर्य समाज और हिन्दू महासभा इस दिशा में काम कर रही हैं। मगर मैं जानता हूँ कि इनके सिवा अगर आपके कार्यकर्त्ता भी इस काम में जुट जायँ तो काम ज्यादा तेजी के साथ हो सकेगा। अगर आर्य-समाज, हिन्दू-महासभा और आपका मण्डल, जहाँ तक हो सके, परस्पर मिलकर, आपस में संगठित होकर, काम करेंगे तो इस क्षेत्र में सफलता मिलना आसान है।'

अन्त्यज्यों के लिये मैं क्या करता हूँ, इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है। इस बात का कोई हिसाब तो दे नहीं सकता। अतएव जवाब यही दिया जा सकता है कि मैंने कुछ भी नहीं किया। किन्तु यदि यह जवाब अट कल-सा लगे तो यों कह

सकते हैं कि अन्त्यज भाई-बहन जितना कहें उतना किया; बात तो यह है कि अन्त्यज-सेवा के नाम पर मैं अपनी शक्ति भर जो कुछ करता हूँ, वह स्वयं अपने लिये कर लेता हूँ। यह कहना कि कोई अन्त्यजों का उद्धार करता है, दूषित है। अस्पृश्यता को मिटाकर उच्च कहे जानेवाले स्वयं अपना उद्धार करते हैं, हिन्दू-धर्म की रक्षा करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर तो प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देने की ज़रूरत ही नहीं रहती। जिस हद तक यह सवाल सिर्फ मुझे लक्ष्य करके पूछा गया है, उसका जवाब यह है कि मैं स्वयं तो स्वतंत्र-रूप से कुछ करता नहीं हूँ, न कर ही सकता हूँ। भारत-भर में असंख्य साथी इस काम में जुटे पड़े हैं। उनके कार्य में मेरा जितना भाग हो सकता है, उसकी गणना किसी को करना हो तो भले ही कर ले।

ये भाई मानते हैं कि मैं खादी का काम ज्यादातर करता हूँ, मगर यह उनकी भूल है। मैं स्वयं कोई खादी का काम करता हूँ, यह तो बता नहीं सकता, हाँ, प्रतिदिन नियमानुसार यज्ञ के लिये जो कातता हूँ। उतना-मात्र बता सकता हूँ। और तो जो कुछ होता है, सो साथियों द्वारा ही।

साथ ही खादी के काम में सैकड़ों या हजारों अन्त्यजों की जो सेवा हो जाती है, सो तो है ही। दूसरे अन्त्यजों की सेवा का काम ऐसा नहीं कि फी गज खादी की कीमत के समान उसकी कीमत का अन्दाज़ा हम लगा सकें। अगर कोई पूछे कि अन्त्यज-शालायें कितनी खोली गयीं, उनके लिये कुएँ कितने खोले गये मन्दिर कितने बांधे गये, तो इन सबके जवाब से मुझे संतोष तो नहीं हो सकता। अगर कोई कह सके कि अस्पृश्यता का

पारा इतना कम हुआ है तो, अवश्य कुछ पता चले। मगर ऐसा यन्त्र हमारे पास है नहीं। अन्त्यजों के लिये हजारों शालाओं, उतने ही मन्दिर और उतने ही कुओं के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता रूपी दीवार में से एक ईंट भी हिली नहीं है। जब अस्पृश्यता निवारण का काम शुरू हुआ तब कट्टर वैष्णव-धर्म माननेवाले मित्रों ने कहा था अगर आप अस्पृश्यता-निवारण की धुन को छोड़ दें तो शालायें वगैरः बनवाने के काम में आप जितना कहें उतनी मदद दे सकते हैं। अस्पृश्यता मिटाकर आपको क्या करना है?' ऐसी मदद से मुझे जरा भी सन्तोष नहीं हो सकता था। मुझे अन्त्यजों के लिये जुदी संस्थायें चाहिये थीं मुझे तो वर्तमान सार्वजनिक संस्थाओं में उनके लिये प्रवेशाधिकार की जरूरत थी। जुदी संस्थायें हिन्दुओं के भूषण की नहीं, बल्कि उनके पूषण की सूचक हैं। आजकल अन्त्यजों के लिये जुदी शालायें, मन्दिर वगैरः बनवाने के झंझट में मैं पड़ता भी हूँ, सो सिर्फ विवश होकर, अपाद्-धर्म में समझ कर, और यह आशा रख कर कि आखिरकार इन संस्थाओं और दूसरी संस्थाओं के बीच का भेद मिट जायगा।

मैं स्वयं तो अस्पृश्यता को हवा होते देख रहा हूँ, मगर यह साबित करने के लिए मेरे पास कोई यंत्र नहीं है।

' प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, माली पाछा भागे जोने;
माँही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने।'

आर्य-समाज और हिन्दू-महासभा अपनी अन्त्यज-सेवा के लिये धन्यवाद की पात्र हैं। मैं जहाँ थोड़ा बहुत कर सकता हूँ, करता हूँ। लेकिन मैं कबूल करता हूँ कि कई बार काम करने के

तरीके में भेद होने की वजह से मैं अपनी सेवायें समर्पित नहीं कर सकता। मुझे इस बात का लोभ नहीं है कि हर एक कार्य में मेरा हाथ होना ही चाहिए, न हर एक काम करने की मुझमें शक्ति ही है। मुझे अपनी शक्ति का भान है, उस मर्यादा में रह कर मुझसे जो कुछ हो सकता है, करके कृतार्थ होता हूँ।

अस्पृश्यता

'मेरे लिए अस्पृश्यता के विषय में कुछ कहना फजूल है। मैं बार बार कह चुका हूँ कि यदि इस जन्म में मुझे मोक्ष न मिले तो मेरी आकांक्षा है कि अगले जन्म में भंगी के घर मेरा जन्म हो। मैं वर्णाश्रम को मानता हूँ और उसके विषय में जन्म और कर्म दोनों को मानता हूँ। पर मैं इस बात को नहीं मानता कि भंगी कोई पतित योनि है। ऐसे कितने ही भंगी देखे हैं जो पूज्य हैं और ऐसे कितने ही ब्राह्मण को देखे हैं जिनकी पूजा करना मुश्किल पड़ता है। ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर ब्राह्मणों की या भंगी की सेवा कर सकने के बजाय मैं भंगी के घर पैदा होकर भंगी की सेवा ज्यादह कर सकूँगा और दूसरी जातियों को भी समझा सकूँगा। मैं भंगियों की अनेक तरह से सेवा करना चाहता हूँ। मैं उन्हें यह सीख देना नहीं चाहता कि वे ब्राह्मण से घृणा करें। घृणा से मुझे अत्यंत दुःख होता है। भंगियों का मैं उत्कर्ष चाहता हूँ; पर मैं अपना यह धर्म नहीं समझता कि उन्हें पश्चिमी तरीकों से हक माँगने की सलाह दें। इस तरह कुछ भी हासिल करना हमारा धर्म नहीं। मार-पीट से प्राप्त की हुई चीज दुनियाँ में

कायम नहीं रह सकती। मैं अपनी आँखों के सामने उस जमाने को आता हुआ देखता हूँ कि जब मार-पीट के बल पर कोई भी काम सिद्ध न हो सकेगा।

मैं हिन्दू-धर्म की उन्नति चाहता हूँ और अस्पृश्यों को अपना बनाना चाहता हूँ। इससे जब कोई भी अछूत अपना धर्म छोड़कर दूसरे धर्म में मिलता है तब मुझे भारी धक्का पहुँचता है। पर हम करें क्या? हम हिन्दू पतित हो गये हैं। हमारे दिलों से त्याग-भाव चला गया। प्रेम-भाव जाता रहा, सच्चा धर्म-भाव नष्ट हो गया। गीता में तो कहा है कि ब्राह्मण और चाण्डाल को समान समझो। समान के मानी क्या हैं? यह नहीं कि ब्राह्मण और भंगी के धर्म एक हो जाते हैं। पर इस हद तक तो दोनों में समानता जरूर होनी चाहिये कि हम दोनों के साथ एक सा न्याय कर सकें। मुझे भंगी की जरूरत रफा करनी चाहिये, भंगी की तकलीफ तो यह है कि हम उनकी मामूली से मामूली जरूरतें भी पूरी नहीं करते। भंगी को भी सोने की जगह चाहिये ही, साफ-सुथरी हवा और पानी तो चाहिये ही, भोजन तो चाहिये ही। इतनी बातों में तो वे ब्राह्मण के समान ही हैं। जिस भंगी को सेवा की जरूरत है, जैसे कि किसी भंगी को साँप ने काटा हो तो मैं जरूर उसकी सेवा करूँगा। भंगी को यदि मैं अपनी जूठन खिलाऊँ तो मैं पतित हूँगा। इसीसे मैं कहता हूँ कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का महापाप है।

एक प्रकार की अस्पृश्यता के लिये हिन्दू-धर्म में स्थान है। एक शख्स मैले को छूकर जब तक स्नान न कर ले तब तक वह अस्पृश्य भले ही रहे। मेरी माँ जब मल-मूत्र साफ़ करती

तब नहाये बिना किसी चीज को नहीं छूती मैं वैष्णव-सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ इसलिए इतनी अस्पृश्यता—कर्म की क्षणिक अस्पृश्यता को मैं मानता हूँ। परन्तु जन्म की अस्पृश्यता को मैं नहीं मानता। जब मैं अपने मल-मूत्र को उठानेवाली अपनी माता की मूर्ति का स्मरण करता हूँ तब वह मुझे अधिक पूज्य मालूम होती है। उसी तरह जब भंगी की सेवा का विचार करता हूँ तब मेरी दृष्टि में वह पूज्य हो जाता है।

मैंने यह कभी नहीं कहा कि अन्त्यजों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार रक्खा जाय, हालां कि मैं रोटी का व्यवहार रखता हूँ। बेटी-व्यवहार के लिये मेरे पास गुञ्जाइश नहीं। मैं वानप्रस्थाश्रम का पालन करता हूँ—संन्यास का पालन करता हूँ—या नहीं, सो नहीं कह सकता। क्योंकि कलियुग में संन्यास-धर्म का पालन करना महा कठिन है। मैं तो प्राकृत प्राणी हूँ। मैंने वेदाध्ययन नहीं किया और मैं मोक्ष के लायक हूँ या नहीं, इस विषय में संदेह है। क्योंकि मैं राग-द्वेष का पूर्ण त्याग नहीं कर पाया हूँ वेद का उच्चारण पण्डित मालवीयजी की तरह नहीं कर सकता। उसके कारण मोक्ष न मिलता हो सो बात नहीं। पर जब तक मेरे अंदर राग-द्वेष मौजूद हैं तब तक मुझे मोक्ष नहीं मिल सकता। इससे मैं संन्यासी चाहे न होऊँ पर इस बात में कुछ भी दोष नहीं दिखाई देता कि मेरी स्थिति का हिन्दू सारे संसार के साथ रोटी-व्यवहार रक्खे। परन्तु जिस दोष के दूर होने की आवश्यकता है वह है अछूतपन। उसमें रोटी-व्यवहार का समावेश नहीं है।

अस्पृश्यता-निवारण को मैंने जो महासभा का एक कार्य

माना है वह केवल राजनैतिक हेतु पूरा करने के लिए नहीं है। यह हेतु तो तुच्छ है, स्थायी नहीं। स्थायी बात तो है हिन्दू-धर्म में, जिसे कि मैं सर्वोपरि मानता हूँ, अस्पृश्यता का कलंक न रहे। स्थूल स्वराज्य के लिये मैं अन्त्यजों को फुसलाना नहीं चाहता। इस लालच में उन्हें फँसाना नहीं चाहता। मैं तो मानता हूँ कि हिन्दुओं ने अस्पृश्यता को अंगीकार करके भारी पाप किया है। उसका प्रायश्चित्त उन्हें करना चाहिये। मैं अस्पृश्यों की 'शुद्धि' जैसी किसी चीज को नहीं मानता। मैं तो अपनी ही शुद्धि का कायल हूँ।

जब मैं स्वयं ही अशुद्ध हूँ तो दूसरे की शुद्धि क्या करूँगा जब कि मैंने अस्पृश्यता का पाप किया है तो शुद्ध भी मुझे ही होना चाहिये। इसलिये हम जो अस्पृश्यता-निवारण कर रहे हैं वह केवल आत्म-शुद्धि है, अस्पृश्यों की शुद्धि नहीं मैं तो हिन्दू-धर्म की इस शैतानियत को निर्मूल करने की बात कर रहा हूँ, अस्पृश्यों को फुसलाने की बात मेरे पास नहीं है।

परन्तु हिन्दू-जाति के लिये खान-पान का सवाल जुदा है। मेरे कुटुम्ब में ऐसे लोग हैं जो मर्यादा-धर्म का पालन करते हैं। वे और किसी के साथ भोजन नहीं करते। उनके लिये खाने-पीने के बरतन और चूल्हा भी अलाहदा होता है। मैं नहीं मानता कि इस मर्यादा में अज्ञान, अन्धकार, या हिन्दू-धर्म का क्षय है। मैं खुद इन बाहरी आचारों का पालन नहीं करता। मुझसे यदि कोई कहे कि हिन्दू-संसार को इसका अनुकरण करने की सलाह ..., तो मैं इनकार करूँगा। मालवीयजी मुझे पूज्य हैं, मैं उनका ...-प्रक्षालन भी करूँ। पर वे मेरे साथ खाना नहीं खाते।

ऐसा करके वे मेरे साथ घृणा नहीं करते हैं। हिन्दू-धर्म में इस मर्यादा को अटल स्थान नहीं है, परन्तु एक खास स्थिति में वह स्तुत्य मानी गई है। रोटी-बेटी के व्यवहार का सम्बन्ध जिस दरजे तक संयम से है उस दरजे तक वे भले ही रहें। पर यह बात सब जगह सच नहीं है कि किसी के साथ भोजन करने से मनुष्य का पतन होता है। मैं नहीं चाहता कि मेरा लड़का जहाँ चाहे और जो चाहे खाना खाता फिरे, क्योंकि आहार का असर आत्मा पर पड़ता है। पर यदि संयम या सेवा की सुविधा के लिये वह किसी के यहाँ कुछ खास चीजें खाय तो मैं नहीं समझता कि वह हिन्दू-धर्म का त्याग करता है। मैं नहीं चोहता कि खान-पान की जो मर्यादा हिन्दू-धर्म में है उसका क्षय हो। संभव है कि इस मर्यादा को भी छोड़ देने का युग आ जाय। ऐसा होने से हमारा विनाश नहीं हो जायगा। आज तो मैं वहीं तक जाने के लिये तैयार हूँ जहाँ तक मेरा दिल मानता है। मेरी विचार-श्रेणी में इस युग में रोटी-बेटी के व्यवहार की मर्यादा का लोप नहीं आ सकता। मेरी इस वृत्ति के कारण मेरे कितने ही मित्र मुझे दम्भी मानते हैं, पर इसमें किसी तरह का ढोंग नहीं है। स्वामी सत्यदेव और मैं अलीगढ़ जा रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा—'आप यह क्या करते हैं? ख्वाजा साहब के यहाँ खावेंगे? मैंने कहा, मैं खाऊँगा, आपके लिये मर्यादा है तो आप न खावें। मेरे लिये ख्वाजा साहब के यहाँ खाद्य वस्तुयें न खाना पतितता है। पर यदि आप खायँगे तो पतन होगा, क्योंकि आप मर्यादा का पालन करते हैं। स्वामी सत्यदेव के लिये ब्राह्मण बुलाया गया उसने उनके लिये रसोई बनाई। मौलाना अब्दुल

बारी के यहाँ भी ऐसा ही इन्तजाम होता है। यहाँ तक कि हम सब जाते हैं तब ब्राह्मण बुलाया जाता है, और उसे हुक्म होता है कि तमाम चीजें भी बाहर से लावे। मैंने मौलाना से पूछा कि इतने एहतियात की क्या जरूरत? तो कहते हैं कि मैं दूसरों को भी यह मानने का मौका नहीं देना चाहता कि मैं आपको भ्रष्ट करना चाहता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि हिन्दू-धर्म के अनुसार बहुत से लोगों को हमारे साथ खाना खाने से परहेज़ होता है। मैं मौलाना को आदर की दृष्टि से देखता हूँ, वे सीधे-साधे भोले आदमी हैं। कभी-कभी भूल कर डालते हैं, पर हैं खुदापरस्त और ईश्वर से डरनेवाले।

बहुतेरे लोग मुझे कहेंगे कि आप सनातनी कहाँ से हो गये? आप न तो काशी-विश्वनाथ के दर्शन करते हैं, यही नहीं; उल्टा ढेड की लड़की को गोद ले लिया है। मुझे इन सवाल पूछने वालों पर रहम आता है।

अन्त्यज भाइयो, आपके साथ बहुत बातें करने नहीं आया था, फिर भी कर गया, क्योंकि आपके साथ मुझे प्रेम है। आपके साथ जो पाप किये गये हैं उनके लिये मैं आपसे माफ़ी चाहता हूँ। पर आपको अपनी उन्नति की शर्तें भी समझ लेनी चाहिये। मैं जब पूना गया था तब एक अंत्यज भाई ने उठकर कहा था—'हिन्दू जाति यदि हमारे साथ न्याय न करेगी तो हम मार-काट से काम लेंगे।' यह सुन कर मुझे दुःख हुआ था। क्या इससे हिन्दू-जाति का या आपका उद्धार हो सकता है? क्या इससे अस्पृश्यता दूर हो सकती है? उपाय तो सिर्फ यही है कि धर्मान्ध हिन्दुओं को समझावें-बुझावें और जो कष्ट वे दें

उन्हें सहन करें। आप यदि मदरसे में जाने का हक चाहें, चारों वर्ण जहाँ जहाँ जा सकते हों वहाँ जाने का हक चाहें, जो जो स्थान और पद प्राप्त कर सकते हों उनको पाने का हक मांगे तो वह बिल्कुल ठीक है। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ है कि आपके लिए कोई भी ऐहिक स्थिति अप्राप्य न हो। पर आप इन सब बातों को पश्चिमी तरीकों से नहीं प्राप्त कर सकते। हिन्दू-धर्म में जो विधि कल्याणकारिणी बताई गई है उसी के द्वारा कर सकते हैं। यदि यह मानें कि शरीर-बल के द्वारा कार्य सिद्ध होता है तो इसका अर्थ यह होता है कि आसुरी साधनों के द्वारा हम धर्म-कार्य सिद्ध करना चाहते हैं। मैं आपसे चाहता हूँ कि आपके अन्दर यह आसुरी भाव न पैठे और आप सच्चे भागवत धर्म का पालन करें। ईश्वर हमें ऐसी सुमति दें कि जिससे अस्पृश्यता-निवारण एक क्षण में हो जाय।'

शास्त्र-निर्णय और अस्पृश्यता

हिन्दू-धर्म या शास्त्र के नाम पर जो कुछ कहा जाता है वह सब सच ही है, यह मानना तो बड़ा खतरनाक है। यह मान लेने का तो कोई कारण नहीं कि हमारे सभी शास्त्र बड़े विचार के साथ लिखे गये हैं, और न यही मान लेना चाहिए कि वे सभी अज्ञानता (बेवकूफी) से लिखे गये हैं। अगर हम यह अर्थ करें कि जिसमें शुद्ध ज्ञान है वही शास्त्र है, तब तो यह कहा जा सकता है कि सभी शास्त्र ज्ञान-पूर्वक लिखे गये हैं। इस विचार के अनुसार जहाँ नरमेध (मनुष्य-बलि) आदि की

बातें आती हैं, उन्हें अज्ञान समझना चाहिए। वह बात शुद्ध शास्त्रों में पीछे से भी जोड़ी जा सकना सम्भव है। परन्तु आत्मार्थी को यह सब खोज करने की जरूरत नहीं। यह तो इतिहासज्ञ के काम की बात है। हमें तो हरएक लेख या उपदेश में से उसका तत्त्व ग्रहण करना चाहिए। सभी शास्त्रों को शास्त्र मानकर उनमें के अनर्थ को ही अर्थ सिद्ध करने के बखेड़े में हम क्यों पड़ें? हिन्दुस्थान और अन्य देशों में, ज्ञान और अज्ञान तो सभी जगह साथ-साथ रहे हैं; अतएव काली को भोग (बलि) आदि अन्याय हमारे धर्म के नाम पर होते रहना स्वाभाविक ही है। हमारा प्रथम मूल-मन्त्र तो है आत्मा को जानना। हमने यह पाठ पढ़-समझ लिया, तहाँ और सब तो स्वयं ही समझ में आ सकता है।

२—यह जो कहा जाता है कि शास्त्र-निर्णय में बुद्धि को स्थान नहीं, इससे मेरा मतभेद है। मेरा तो यह विश्वास है कि जिसे न बुद्धि समझ सके और न हृदय स्वीकार करे, वह शास्त्र नहीं; और मैं समझता हूँ कि जिसे केवल धर्माचरण करना हो उसे इस सिद्धान्त को मानना ही चाहिए। ऐसा न हो तो हमारे धर्मच्युत होने का डर रहता है। बुद्धि के विपरीत जो हो उसे यदि शास्त्र की तरह माना भी जाता हो तो भी वह शास्त्र तो नहीं हो सकता। अनीति सीखना शास्त्र नहीं हो सकता। गीता का अर्थ मैंने ऐसा सुना है कि दुष्ट अपना सगा-सम्बन्धी भी हो तो उसे भी हम पशुबल से हटा सकते हैं—हटाना ही धर्म है पर राम ने रावण का संहार किया था इसलिए जिसे हम रावण समझते हों, क्या उसका संहार करना हमारा धर्म है? मनुस्मृति

में मांसाहार के लिए लिखा है; इसलिए क्या वैष्णव मांसाहार कर सकता है ? बड़े-बड़े शास्त्रवेत्ताओं और संन्यासियों के मुख से मैंने सुना है कि रोग होने पर उसके निवारण के लिए गो-मांस तक खाया जा सकता है। इन सब शास्त्रार्थों को स्वीकार कर मैंने यदि अपने सगे-सम्बन्धियों का संहार किया होता, अँग्रेज़ों को मार डालने की लोगों को सलाह दी होती, और बीमारी में गो-मांस खाया होता, तो आज मेरी क्या दशा होती ? परन्तु नहीं ऐसे वक्त मैंने अपनी बुद्धि पर विश्वास किया और अन्तःकरण की बात को ही धर्म माना। इसीसे मैं इन बातों से बच सका हूँ और आप सबको भी ऐसा करने की सलाह देता हूँ।

३—हमारे निर्मल तपस्वियों ने इसीलिए हमें यह शिक्षा दी है कि जो वेदादि का पाठ तो करे किन्तु धर्म पर आचरण न करे वह 'वेदिया' कहलाता है; वह न तो खुद ही भवसागर को पार कर सकता है, और न किसी को पार करा ही सकता है। यही कारण है कि वेदादि को कण्ठाग्र करनेवाले अथवा उनकी टीकाएँ याद रखनेवालों को देखकर मैं चकित नहीं हो जाता; यही नहीं, मैं उनके ज्ञान को देखकर केवल चकित ही नहीं होता प्रत्युत अपने अल्पज्ञान को उससे कहीं मूल्यवान समझता हूँ।

४—मैं नम्रता के साथ यह कहना चाहता हूँ कि सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का धर्म यह नहीं कि जिधर लोक-प्रवाह की गति हो उधर ही वह जायँ; किन्तु उन्हें तो यदि वह गति ग़लत हो तो उसे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये।

५—मुझे शास्त्र का ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं, और मैं जिद्दी हूँ, यह कहकर कोई मुझे हिन्दूपन से अलग नहीं कर सकता।

क्योंकि जबतक मेरा यह विश्वास है कि हिन्दू-पन की परीक्षा अच्छे आचरण ही में है—वादविवाद, वाक्चातुर्य अथवा शास्त्रार्थ में नहीं—तबतक मैं अपना हिन्दूपन का दावा नहीं छोड़ना चाहता।

६—शास्त्रार्थ के बखेड़े में हम इतने ज्यादा पड़ गये हैं कि हमने कुछ का कुछ कर डाला है। धूल का धान कर देने के बदले धान की धूल कर डाली है; चावल छोड़कर छिलकों से चिपट गये हैं; मक्खन को छोड़कर छाछ के पीछे पड़ गये हैं! आजकल की परिस्थिति से मालूम होता है कि अब हम कोरे कहने से अमल करने के युग-द्वार पर आ पहुँचे हैं। [अतएव हमारे विचार एवं व्यवहार खाली हृदय पर नहीं किन्तु बुद्धि पर भी निर्भर रहें तभी कर्ता की तरह हम कुछ चिरस्थायी कार्य कर सकते हैं। हमारे अनेक विश्वास उसी तरह भित्ति-रहित हैं जिस तरह कि पाँच वर्ण हैं और होने चाहिए किन्तु अच्छी तरह देखने पर] वर्ण पाँच नहीं, चार हैं। अस्पृश्यता संयम नहीं है, न वर्णाश्रम की मर्यादा है। अन्य वर्णवाले (वर्णे-तर) को भी अस्पृश्य मानना दयाधर्म नहीं, वरन् कठोरता है। रक्तपित्त के रोगी को छूने से आत्मा भ्रष्ट नहीं होती प्रत्युत यदि स्पर्श सेवा-भाव से किया जाय तब तो आत्मा की उन्नति होती है। अन्त्यजों में भङ्गी का सेवा करना धर्म है; दया इस बात का तक़ाज़ा करती है कि दर्द से पीड़ित भङ्गी की सार-सँभार तत्काल की जाय। भङ्गी ने मैला उठाया हो तो उसे स्नान करना चाहिये। सफ़ाई, शुद्धता के लिये यह आवश्यक है। पर न नहाना, अधोगति—रसातल को पहुँचानेवाला नहीं। हाँ, जरू-

रत के वक्त भङ्गी को स्पर्श न करना पाप है; और यह मानना कि उसे छूने से पाप लगता है, अज्ञानता है।

७—हममें से जो इस बात को समझता है कि किसी को भी छूने में पाप नहीं और नहाये-धोये भङ्गी को छूकर नहाना व्यर्थ है वे जब भङ्गी आदि की सेवा करते हुए समय-समय पर उन्हें छुएँगे, तभी यह बुराई दूर हो सकती है। नहीं तो, ऐसा कहने वाले लोग तो मिलते ही रहेंगे कि अन्त्यजों का सैकड़ों पीढ़ी तक भी स्पर्श करना पाप है। उनपर हम विनयपूर्वक किन्तु उतने ही आग्रह के साथ किये गये अपने व्यवहार और उसके शुभ परिणामों से ही विजय प्राप्त कर सकेंगे।

८—हमलोग अस्पृश्यता-सम्बन्धी जो आचरण करते हैं मैंने तो उसे पाप समझकर धार्मिक दृष्टि से ही उसका त्याग करने के लिये आपसे कहा है। क्योंकि धार्मिक दृष्टि से अपने जीवन का निर्माण करनेवाले लोग धर्मकोट की एक भी ईंट कमज़ोर नहीं होने देते।

९—मेरा यह विश्वास है कि शास्त्रों के पढ़ लेने से ही धर्म का स्वरूप प्राप्त नहीं हो जाता। हम हमेशा देखते आये हैं कि यमादि का पालन किये बग़ैर ही शास्त्रों का पाठ करनेवाले मनुष्य औंधे रास्ते ही चलते हैं। जिसने सिर्फ़ पण्डिताई करने के लिए ही शास्त्रों को पढ़ा हो उससे मैं शास्त्र का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहता। अपने आचरण का ख़ाका मैं प्रो० मैक्समूलर के ख़ूब अध्ययन के बाद लिखे हुये शास्त्रों में से भी नहीं बनाना चाहता। आजकल शास्त्रों की जानकारी का दावा करनेवाले अधिकांश में केवल अज्ञानी एवं दम्भी ही देखे जाते हैं। मैं धर्मगुरु की

खोज में हूँ। गुरु की आवश्यकता मैं मानता हूँ। परन्तु जबतक मुझे योग्य गुरु नहीं दीखता तबतक मैं खुद ही अपना गुरु बन बैठा हूँ। यह मार्ग निकट है, सही, तथापि इस विषम समय में तो यही ठीक मालूम होता है।

१०—अपनी धार्मिक जिम्मेदारी को पूरी तरह समझकर ही मैं इस आंदोलन में भाग ले रहा हूँ। कालान्तर में जिस तरह नर्मदाशंकर के विचार बदल गये थे, एक समालोचक ने मेरा भविष्य भी वैसा ही बताया है। अगर वैसा समय आवे तो यही समझियेगा कि मैंने हिन्दू-धर्म को—नहीं धर्म-मात्र को ही, तिलांजलि दे दी। और अगर हिन्दू-धर्म को इस कलंक से छुड़ाते हुए मेरी मौत हो जाय, तो भी मैं समझता हूँ कि उसमें कोई ख़ास बात नहीं। जिस धर्म में नरसिंह महता-सरीखे लोग हुए हैं उसमें अस्पृश्यता का कोई ठिकाना नहीं हो सकता।

११—अस्पृश्यता को पाप मानने को पाश्चात्य विचार बतलाना, पाप को पुण्य मानने की चेष्टा के समान है। अखो भगत ने कहीं पाश्चात्य शिक्षा नहीं पाई थी; पर उसने ही यह गाया है—'आभड़छेट अदकेरूँ अंग'। अपने धर्म के दोषों को निकालने के प्रयत्न को अन्य धर्मों की बात मान कर उन दोषों पर ही अड़े रहना धर्मान्धता है, और इससे धर्म की अवनति ही होती है।

१२—क्या अन्त्यजों का अन्तःकरण मैला है? क्या अन्त्यज जन्म से ही मनुष्य नहीं? क्या वे पशुओं से भी गयेबीते हैं?

१३—अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म की बुराई है। यह तो सम्भव

है कि गिरते जमाने (पतनकाल) में आपद्धर्म के रूप उस समय के लिए यह व्यवस्था जारी की गई हो। परन्तु यह व्यापक नहीं-अव्यापक है; और शास्त्रों में इसकी गुञ्जाइश नहीं है। जिन श्लोकों को इसके समर्थन में पेश किया जाता है वे या तो क्षेपक हैं, अथवा उनका अर्थ ठीक नहीं किया जा रहा है। वैष्णवों ने अस्पृश्यता का धर्म-रूप में कभी वर्णन नहीं किया। फिर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, अस्पृश्यता का भी नाश होता जाता है। रेलों, सरकारी स्कूलों, तीर्थस्थानों, और अदालतों में इसकी गुञ्जाइश नहीं है और मिलों तथा दूसरे बड़े-बड़े कारख़ानों में अन्त्यजों से कोई परहेज़ नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार पाप मानते हुए भी वैष्णव लोग उनका जो स्पर्श करते हैं, मैं चाहता हूँ कि वे इस पर विचार कर और पुण्य मान करके ऐसा करें। गीता में भी यही कहा गया है; समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान, अन्त्यज सब एक-से हैं। नरसिंह महता यही गाते थे कि वैष्णवों में समदृष्टि होनी चाहिए। पर अन्त्यजों को सर्वथा अस्पृश्य मानते हुए समदर्शी नहीं रहा जा सकता—कम-से-कम वैष्णव तो ऐसा दावा कर ही नहीं सकते।

१४—मैंने अन्त्यजों में बहुतों को सरलचित्त, प्रामाणिक, ज्ञानी एवं ईश्वर-भक्त पाया है। उन्हें मैं सब तरह से वन्दनीय मानता हूँ। उपाधि-रहित हमारे बे पढ़े जो डाक्टर हैं उनकी बेइज्ज़ती करने से हम पाप करते हैं ऐसा करके और वैष्णव धर्म पर कलंक लगाते हैं।

१५—परंतु कुछ लोग अस्पृश्यता और वर्णाश्रम इन दोनों को एक ही चीज़ समझते मालूम होते हैं। मेरी अल्प बुद्धि के

अनुसार वर्णाश्रम धर्म है, शाश्वत है, व्यापक है, प्रकृति के अनुकूल है और व्यवहार की व्यवस्था है। हिन्दू-धर्म का यह एक शुद्ध बाह्य स्वरूप है।

वैष्णव-धर्म और अस्पृश्यता

जो मनुष्य हिन्दुस्थान में हिन्दूकुल में पैदा होकर वेद, उपनिषद् पुराणादि ग्रन्थों को धर्मग्रन्थ की तरह मानते हैं; जो मनुष्य सत्य, अहिंसा आदि पाँच यमों के सम्बन्ध में श्रद्धा रखते हैं और उनका यथाशक्ति पालन करते हैं; जो मनुष्य यह मानता है कि आत्मा है, परमात्मा है, आत्मा अजर और अमर होने पर भी देहाभ्यास से अनेक योनियों में आती जाती रहती है, वह मोक्ष को प्राप्त होती है और मोक्ष परमपुरुषार्थ है, और जो वर्णाश्रम और गोरक्षा धर्म को मानता है, वह हिन्दू है। जो व्यक्ति उक्त सब बातों को मानने के सिवा वैष्णव सम्प्रदाय के माननेवाले कुटुम्ब में पैदा हुआ हो और जिसने उस सम्प्रदाय का त्याग न किया हो, जिसमें नरसिंह मेहता के 'वैष्णवजन' नाम के निम्नलिखित भजन में वर्णित गुण थोड़े बहुत अंश में भी मौजूद हों और जो उन गुणों को पूर्णरूप से प्राप्त करने का प्रयत्न करता हो, वह वैष्णव है।

२—नरसिंह मेहता का वह भजन इस प्रकार है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे,
पर दु:खे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोक ,माँ सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे,
वाच, काछ, मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे।

समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहीं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे,
रामनाम शूँ ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वण लोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवारया रे,
भणे नरसैंयो तेनुँ दरशन करतां, कुल एकोत्तेर तार्यां रे।

३—नरसिंह मेहता ने वैष्णव के जो लक्षण बताये हैं; उससे हम देखते हैं कि वह—

(१) दूसरों के दुःख का निवारण करनेवाला होता है,
(२) ऐसा करते हुए निरभिमानी होता है,
(३) सबकी स्तुति करता है,
(४) किसी की निन्दा नहीं करता,
(५) वचन का पूरा होता है
(६) लंगोट का पक्का होता है
(७) मन को दृढ़ रखता है
(८) समदृष्टि होता है
(९) तृष्णा-रहित होता है
(१०) एक पत्नीव्रत का पालन करता है,
(११) सत्यव्रत पालता है,
(१२) अस्तेय का पालन करता है,
(१३) मायातीत होता है,
(१४) इससे वीतराग होता है,
(१५) राम-नाम में तल्लीन होता है,
(१६) इसीसे वह पवित्र होता है,

(१७) लोभ-रहित होता है,
(१८) कपट-रहित होता है,
(१९) काम-रहित होता है और
(२०) क्रोध-रहित होता है।

४—इनमें वैष्णव-शिरोमणि नरसिंह मेहता ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है, अर्थात् उनके मत से जिनके हृदय में प्रेम नहीं है वह वैष्णव नहीं है। जो सत्य का पालन नहीं करता जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की, वह वैष्णव नहीं है। अपनी प्रभाती में उन्होंने सिखाया है कि वेद पढ़ने से, वर्णाश्रम का पालन करने से और कण्ठी बाँधने अथवा तिलक लगाने से कोई वैष्णव नहीं हो जाता ये सभी पापमूल हो सकते हैं। पाखण्डी माला पहन सकता है, तिलक लगा सकता है। किन्तु पाखण्डी रहकर सत्याचरणी नहीं हो सकता; पाखण्डी होते हुए दूसरों का दुःख निवारण नहीं कर सकता, और पाखण्डी बने रहते वचन, लंगोट और मन को पक्का नहीं रक्खा जा सकता।

५—इन सिद्धान्तों की ओर मैं सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, क्योंकि अन्त्यजों के सम्बन्ध में मेरे जैसे विचार तो बहुत से लोगों के हैं, उन्हें अनेक लोग छूते भी हैं; किन्तु मुझ पर कई लोगों को रोष आता है। उसका कारण तो मैं यह समझता हूँ कि वे मुझे दूसरी तरह से मर्यादा धर्म का पालन करनेवाला और अच्छा समझते हैं, और इसलिए मैं अन्त्यजों के सम्बन्ध में जो विचार रखता हूँ, वे उन्हें भूल मान कर उन्हें बर्दाश्त नहीं कर सकते। उनकी यह धारणा है कि

मेरे ये विचार स्वराज्य सम्बन्धी अपनी गति को रोकते हैं। कोई-कोई तो यह भी मानते हैं कि मैंने अपने हाथों आपत्ति मोल लेकर अपनी हठ से स्वराज्य की नाव को तूफ़ान में डाल दिया है।

६—इसके सिवा बहुत से लोगों की यह धारणा है कि यदि मैं राष्ट्रीय पाठशालाओं में से अन्त्यजों का बहिष्कार न करूँगा, तो स्वराज्य-आन्दोलन की गति उलटे रास्ते चली जायगी। किंतु मैं मानता हूँ कि यदि मुझमें जरा भी वैष्णवपन शेष होगा, तो अन्त्यजों का त्याग न करके मिलनेवाले स्वराज्य को त्याग करने की शक्ति भी ईश्वर मुझे देगा।

७—जब कि रेलगाड़ी में, होटल में, अदालतों में, मिलों में अस्पृश्यता बाधक नहीं होती, तब पाठशालाओं में, जहां कि शिक्षक की निगरानी में, स्वच्छता के नियमों का पालन करके ही बैठा जा सकता है, अस्पृश्यता किस प्रकार क़ायम रक्खी जा सकती है? मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि को हम अस्पृश्य नहीं मानते, अस्पृश्य मानकर हम उन्हें भाई नहीं बना सकते; तब फिर जो हिन्दू-धर्म का ही एक अंग हैं, उन राष्ट्रीय पाठशालाओं में जिनमें कि अन्य जातियाँ आ सकती हैं, अन्त्यजों को अस्पृश्य किस प्रकार माना जा सकता है?

८—सच्ची हक़ीक़त होने के कारण ही मुझे यह प्रस्ताव पसन्द है कि जिन पाठशालाओं में अन्य वर्ण और वर्णों के बालक आते हैं, उनमें अन्त्यजों का बहिष्कार न होना चाहिए।

९—वैष्णव धर्म का मूल दया है। अन्त्यजों के प्रति हमारा जो बरताव है, उसमें तो मैं दया की एक बूँद तक नहीं देखता।

हममें से कई तो अन्त्यजों को गाली दिये बिना बुलाते ही नहीं। भूले-चूके यदि यन्त्यज अपने डिब्बे में आ बैठता है, तो उस पर गालियों की बौछार होने लगती है। उन्हें हम पशुओं की तरह जूठा अन्न देते हैं। यदि उन्हें बुखार चढ़े या सांप काट खाय तो हमारे वैद्य-डाक्टर उनके इलाज के लिये नहीं जाते। यदि कोई जाने भी लगे, तो हमसे जहां तक हो सकता है, हम उसे रोकते हैं! अन्त्यज के रहने के लिये ख़राब से ख़राब मकान दिये जाते हैं। न उनके लिए रोशनी की सुविधा होती है न रास्तों की। उनके लिये कुँए नहीं होते और सार्वजनिक कुओं, धर्मशालाओं और विद्यालयों का वे उपयोग नहीं कर सकते। उनसे कठिन से कठिन सेवा लेकर हम उन्हें कम से कम मज़दूरी देते हैं। उनके लिये तो सिर पर आसमान और पैरों तले धरती है। क्या यह वैष्णव धर्म की निशानी है? इसे दया-धर्म कहा जाय अथवा क्रूरता धर्म? जिस अंग्रेजी सरकार के साथ हमने असहयोग-युद्ध छेड़ रखा है, वह भी इस हद तक हमारा तिरस्कार नहीं करती। किन्तु हम तो अन्त्यजों के सम्बन्ध में प्रचलित अपनी डायरशाही को धर्म मानकर उसका पोषण करते हैं।

१०—अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण कर नहीं सकती। वह सत्य का, अहिंसा का विरोधी धर्म है, इसलिए धर्म ही नहीं। हम उच्च और दूसरे नीच है यह विचार ही नीच हैं। जिस ब्राह्मण में शूद्र का—सेवा का—गुण नहीं वह ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण तो वही है, जिसमें क्षत्रिय के, वैश्य के और शूद्र के सब गुण हों और इनके सिवा ज्ञान हो। शूद्र कोई ज्ञान से सर्वथा

रहित अथवा विमुख नहीं होते। उनमें सेवा प्रधान है। वर्णाश्रम धर्म में ऊँच-नीच की भावना के लिए अवकाश ही नहीं। वैष्णव सम्प्रदाय में तो भंगी, चाण्डाल आदि तर गये हैं। जो धर्म संसार मात्र को विष्णु समान जानता है, वह अन्त्यज को विष्णु से रहित किस प्रकार मान सकता है ?

११—मेरा नम्र विश्वास है कि अन्त्यजों के सम्बन्ध का मेरा भाव मेरे वैष्णव धर्म को दीप्त करता है; उसमें मेरी शुद्ध दया व्यापक है; उससे मेरी मर्यादा की शुद्धता सिद्ध होती है।

१२—कई वैष्णव यह समझते हैं कि मैं तो वर्णाश्रम धर्म का लोप कर रहा हूँ। किन्तु मेरा तो विश्वास है कि मैं वर्णाश्रम धर्म को मलिनता में से निकालकर उसका सच्चा स्वरूप प्रकट कर रहा हूँ। मैं कुछ रोटी-पानी अथवा बेटी-व्यवहार की हिमायत नहीं कर रहा हूँ। मैं तो इतना ही कहता हूँ किसी भी मनुष्य को छूने से हम पाप करते हैं, इस भावना में ही पाप भरा हुआ है।

१३—रजस्वला स्त्री की अस्पृश्यता का उदाहरण देकर जो अन्त्यजों की अस्पृश्यता का औचित्य सिद्ध किया जाता है उसे मेरी बुद्धि तो अज्ञानता ही मानती है। रजस्वला बहिन को छू जाने में हम पाप नहीं मानते; वरन उसे शारीरिक शौच का भंग मान कर स्नान कर लेने से शुद्ध हो जाते हैं। यदि अस्पृश्य भाई ने गन्दा काम किया हो, उसे, जबतक वह स्नान न कर ले अथवा दूसरी तरह स्वच्छ-शुद्ध न हो ले, तब तक स्पर्श न करना अथवा यदि छू लिया तो स्नान कर लेना यह बात तो मैं समझ सकता हूँ; किन्तु अन्त्यज-कुल में पैदा हुए का सर्वथा त्याग करना

धर्म है यह बात मेरी आत्मा स्वीकार कर ही नहीं सकती।

१४—मैं तो मानता हूँ कि हमने जैसा बोया है, वैसा ही फल पा रहे हैं। अन्त्यजों का तिरस्कार कर हम सारे संसार के तिरस्कार के पात्र बने हैं।

१५—फिर अन्त्यज किसे कहेंगे ? क्या बुनकर अर्थात् जुलाहे अछूत हैं ? क्या चमड़े के जो लखपती व्यापारी हैं वे अछूत हैं ? जिसने चमार का काम छोड़ दिया है, जो भंगी मोटर चलाता है, मिल में काम करता है, सदैव नहाता-धोता है, क्या वह भी अस्पृश्य है ?

१६—लेकिन मैं बहस क्यों करूँ ? जिसे आप अस्पृश्य मानते हैं, उसे छूने में आप जबतक पाप मानते हैं तब तक नहाना हो तो नहा लें; किन्तु मेरी विनय तो यह है कि जिस प्रकार रजस्वला धर्म में आई हुई माता का आप तिरस्कार नहीं करते, वरन् उसकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार अन्त्यज का तिरस्कार न करके उसकी सेवा करिये। उनके लिए कुएँ खुदाइए, पाठशालायें खुलवाए, वैद्य भेजिए, दवा दिलाइए, और उनके दुःख-दर्द में शरीक होकर उनकी आत्मा की आशीष लीजिए। उन्हें अच्छी जगह रखिए, अच्छी मजदूरी दीजिए, उनका सम्मान कर, उन्हें समझाकर अपना छोटा भाई समझकर उनसे मद्यपान, गो-मांसाहार इत्यादि छुड़वाइए। जो छोड़ दें उन्हें प्रोत्साहन दीजिए। उनमें जो कुटेव अर्थात् बुरी आदतें पड़ी हों, उन्हें प्रेम-पूर्वक छुड़वाइए, उन्हें स्नानादि के नियम बताइए; मांसाहार छोड़ने के लिए समझाइए, गो-रक्षा-धर्म बताइए और इन सब पापों के लिए उनके जितने स्पर्श की आवश्यकता है, उतना ही आवश्यक है।

१७—कई लोग यह प्रश्न करते हैं कि यदि ढेड़-भंगी पढ़ने-लिखने लगेंगे तो नौकरी अथवा व्यवसाय में शामिल होना चाहेंगे, तब उनका काम कौन करेगा ? यह प्रश्न ही अस्पृश्यता को हम इस समय जिस तरह समझते हैं, उसकी भयंकरता को प्रकट करता है। मैं यह नहीं चाहता कि भंगी अपना धन्धा छोड़ दे। वरन् मेरा आशय तो यह है कि मैला उठाने का धन्धा वैष्णव को शोभा देने जैसा पवित्र और आवश्यक है। इस धन्धे के करनेवाले हल्के अथवा नीचे दर्जे के नहीं, वरन् दूसरा धन्धा करने वालों के बराबर के अधिकारी हैं और उनकी प्रवृत्ति से देश रोग से बचता है, इसलिए वे वैद्य-डाक्टरों की तरह सम्माननीय हैं।

१८—अन्त्यजों के प्रति सामान्य बर्ताव में केवल द्वेष ही भरा है। वे पढ़-लिख लेंगे, तो भंगीपना न करेंगे, यह कल्पना ही मुझे तो अनुचित प्रतीत होती है। किन्तु ऐसी कल्पना के कारण भी हम ही हैं। भंगी के धन्धे को हम नीच मानते हैं किन्तु सच पूछिए तो यह तो शौच का कार्य होने के कारण पवित्र है। माँ बच्चे का मैला उठाती है, इसलिए वह अधिक पवित्र मानी गई है। रोगी की साध-सम्भाल करने वाली जो बहिन अत्यन्त दुर्गन्धवाली वस्तुएँ उठाती है, उसका हम सम्मान करते हैं। तब, जो सदैव हमारे पाखाने साफ़ रखकर हमें निरोगी रहने में सहायता करते हैं, उनकी हम कैसे पूजा न करें ? उन्हें नीचा बनाकर हम स्वयं नीच बने हैं। किसी को कुएँ में डालने वाला स्वयं भी कुएँ में गिरता है। इसलिए हमें भंगी इत्यादि जातियों को नीच समझने का अधिकार ही नहीं है।

१९—भोजा भगत मोची थे, फिर भी हम उनके भजन आदरपूर्वक गाते हैं और उनकी पूजा करते हैं। रामायण का कौन-सा पढ़नेवाला निषाद की रामभक्ति देखकर उसकी पूजा नहीं करता ? फिर भंगी इत्यादि यदि अपना धन्धा छोड़ें तो हमें उनका विरोध करने अथवा घबराने का कोई कारण नहीं। जब तक हम किसीसे बलपूर्वक कोई काम करवाते रहेंगे, तब तक हम स्वराज्य के योग्य बन नहीं सकते। हमें अपने पाख़ाने साफ़ करना सीख लेना चाहिए। जब हम अपने पाख़ाने मैले रखने में शर्मावेंगे, तब वे हमारे पठन-गृह की तरह साफ़ रहेंगे। पाख़ाने में रहनेवाली मैल, उसकी दुर्गन्ध, और उससे उत्पन्न होने वाली दूषित वायु हमारी सभ्यता को कलङ्कित और आरोग्यता-सम्बन्धी हमारे अज्ञान को सूचित करती है। हमारे पाख़ानों की हालत, अन्त्यजों के प्रति हमारी मलिन प्रवृत्ति का प्रमाण है और अपने में पैदा होनेवाले अनेक रोगों का कारण है। दूसरी जाति वालों के संसर्ग से हम ख़राब अथवा अपवित्र हो जायँगे, यह बात हमारी निर्बलता की सूचक है। संसार में संसर्ग तो होता ही रहा है, फिर भी हम निर्दोष बने रहें, इसी में धर्म की परीक्षा है। भंगी इत्यादि जातियों को स्वच्छ बनाना, उन्हें आगे लाना, उनका सम्मान करना दया-धर्म है। ऐसा करने में उनके किसी के साथ खाने-पीने की आवश्यकता नहीं, वरन् हृदय का भाव शुद्ध करने की ही ज़रूरत है।

२०—अन्त्यजों को हमने बहिष्कृत किया, उन्हें अपना जूठा-सड़ा-गला अन्न खाने को दिया और ऊपर से यह माना कि ऐसा करके हमने पुण्य-कार्य किया है। हमने कम-से-कम

मजदूरी देकर उन्हें भिखमंगा बनाया। उनसे अपना कचरा उठवाया ही नहीं, वरन् खुलवाया भी। अपना उतार उनका शृङ्गार बनाया। परिणाम यह हुआ है कि अब अन्त्यजवर्ग भीख मांगकर खुश होते हैं, जूठन लाकर गर्व करते हैं। सड़ा हुआ अन्न जब उनके घर में पहुँचता है तो उनके बच्चे खुशी से नाचते हैं। जिसके गुलाम अपनी गुलामी में पनपते हों, समझना चाहिये कि उसके पाप की पराकाष्ठा हो गई। यही बात हिन्दुओं के लिए हुई है।

२१—एक अन्त्यज बालक पर अच्छा बनने के लिए, जूठा खाना खाने से इन्कार करने पर मार पड़ी। वह अपना बालक था और वह कितना पवित्र था! मार खाने पर भी उसने मांस खाने से इन्कार किया। ऐसे बालक को जो अस्पृश्य मानता हो, उसे क्या कहा जाय? वह स्वराज्य किस प्रकार भोग सकता है? वह किसकी रक्षा करेगा?

२२—किन्तु इस समय मैं अन्त्यजेतर माता-पिताओं को अस्पृश्यता के विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। क्या वे अंत्यज बन्धुओं पर समान दया नहीं करेंगे? क्या उन्हें सड़ा-गला, मैला-जूठा अन्न देने का भी कोई शास्त्र है? क्या उन्हें कम-से-कम मजदूरी देने का भी कोई शास्त्र है? प्रत्येक माता-पिता से मेरी प्रार्थना है कि वह—

(१) पकाया हुआ अन्न न दें।

(२) केवल सूखा, विना पकाया हुआ अनाज दें।

(३) उन्हें विदेशी अथवा मैले, सड़े-गले कपड़े न दें।

(४) उनका वेतन कम हो तो बढ़ावें।

(५) जो कुछ भी दें प्रेम-पूर्वक दें।

हमारी मलिनता

धर्म के लिए मैं देश को भी बलि कर सकूँ, ऐसी मेरी भावना है। मेरा स्वदेशाभिमान धर्माभिमान से मर्यादित है। अतः देशहित यदि धर्महित का विरोधी हो, तो मैं उसे त्याग देने को तैयार हूँगा। अन्त्यज को अछूत समझना मैं अधर्म मानता हूँ। और धर्म छोड़कर देशहित करने की मेरी किञ्चित इच्छा नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब देश में सच्ची धार्मिक जागृति होगी तभी स्वराज्य मिलेगा। ऐसी जागृति का समय आ रहा है, ऐसा माल्रूम होता है।

२—अस्पृश्यता का विषय ऐसा है कि जिसके सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों को अनेक प्रकार की शंकाएँ हैं। एक एक तरह से तो दूसरी दूसरी तरह से इसकी रक्षा करने में संलग्न है।

३—निर्णय करने में शान्ति रखने की पूर्ण आवश्यकता है। हम धार्मिक या दूसरे किसी शुद्ध निर्णय को अशान्तिपूर्ण नहीं कर सकते। विनययुक्त दलीलों से ही हम सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं। सब धर्म-सङ्कटों का निपटारा हम अपने विचारों को व्यवहार में लाकर ही कर सकते हैं—व्यवहार में आनेवाला सत्य ऊपर आ ही जाता है। सूर्य पर धूल फेंकने से अपनी ही आँखों में पड़ती है इसकी दलील क्या? जिसको ऐसी 'धूल' फेंकने में ही मजा आता है, वह फेंक कर अच्छे-बुरे का अनुभव करेगा। अस्पृश्यता-रूपी पाप को साथ लेकर स्वराज्य लेने का प्रयत्न आकाश में धूल फेंकने के समान है। ऐसी ही शङ्काएँ कितने ही रिवाजों के सम्बन्ध में हैं कोई भी

रिवाज, जब तक उसका विरोध नहीं किया गया, दूर नहीं हुआ है शराब आदि पीने की प्रवृत्ति से बचाव का उपाय भी हमें सोचना पड़ेगा । कितने ही तो शराब पीने को धर्म माननेवाले भी हैं । इसके बाद स्पृश्यता की तो बात ही क्या ? निम्नलिखित तीन प्रश्नों का उत्तर देने की मैं कोशिश करता हूँ ।

(१) भंगी-चमार का कार्य ही मैला है । और जिसका यह धन्धा ही हो जाता है उसपर उसका ऐसा सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है कि वह फिर नहा-धोकर साफ़ हो तो भी उसकी हड्डियाँ तक मैली हो जाती हैं इसलिए उसको छूना सर्वथा वर्जित है ।

(२) डाक्टर आदि जो गन्दे कार्य करते हैं उनका काम भंगी का नहीं । वे सदा ऐसा काम नहीं करते और करते भी हैं तो कार्य करने के बाद साफ़ हो जाते हैं ।

(३) भङ्गी-चमार जब तक अपना धन्धा नहीं छोड़ देते तब तक उनको छूना नहीं चाहिए ।

४—ऊपर की दलीलें कई तरह की हैं । एक पक्ष यह कहता है कि जो 'स्पृश्य' नहाने-धोने लग जायँ तो फिर कुछ कहने योग्य नहीं रहता । अब ऊपर की दलील के पक्षपाती कहते हैं कि भंगी की हड्डियों में ही मैला घुस गया है, उसे फिर कितना ही धोओ, साफ़ करो, स्पर्श नहीं कर सकते ।

५—दोनों ओर की भूलों को मैं अच्छी तरह देख सकता हूँ । हमको भंगी आदि से स्पर्श न करने की आदत पड़ी हुई है, और फिर उसने धर्म का रूप पा लिया है । इसलिए अब जो उसे स्पर्श करने की इच्छा नहीं रखता है, वह हर प्रकार के अपनी आदत का ही समर्थन करता है ।

६—हिन्दूधर्म के शरीर पर कितनी ही प्रथाएँ सवार हैं। उनमें कितनी ही मान्य हैं, कितनी ही निंद्य। अस्पृश्यता निन्दा के योग्य है। धर्म के नाम पर उसका पाप हिन्दूधर्म पर दो हज़ार वर्षों से चढ़ा है और चढ़ता जा रहा है। इस प्रथा को मैं पाखंड कहता हूँ और इस पाखण्ड में से हमें निकलना पड़ेगा—इसका प्रायश्चित हमें करना ही होगा।

७—सनातन धर्म की रक्षा शास्त्रों में छपे हुए श्लोकों को सच्चे बताने से न होगी प्रत्युत उन शास्त्रों में जो महान् सिद्धान्त हैं उनके अनुसार आचरण करने से होगी। जिन-जिन धर्म-प्रचारकों के साथ मुझे बातचीत करने का अवसर मिला है उन्होंने यह बात मंजूर की है। कितने ही विद्वान् गिने जाने और लोगों में पूजे जानेवाले धर्म-प्रचारकों से पूछने पर मालूम हुआ है कि भंगी आदि के व्यवहार का समर्थन पुरानी चली आनेवाली प्रथा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

८—यह देश जिस प्रकार तपस्या, पवित्रता, दया आदि से भरा हुआ है उसी प्रकार स्वच्छन्दता, पाप, क्रूरता आदि से भी परिपूर्ण है। ऐसे समय में सबका कर्त्तव्य है कि इस पाखण्ड के विरुद्ध तैयार हों और ऐसे पवित्र कार्य को बढ़ाकर पुण्य के हिस्सेदार बनें एवं छः करोड़ का समुदाय जो हिन्दूधर्म से निराश होकर उसे त्याग न करे, ऐसा करने में सहायता करें।

९—कोई-प्राणी जन्म से ही अस्पृश्य है और उसे अस्पृश्य अवस्था में ही मरना पड़ेगा, ऐसा हिन्दूधर्म में नहीं है यह मेरा विश्वास है। ऐसे अधर्म को धर्म का नाम देना अधर्म करने के

समान है। जो अस्पृश्यता आज व्यवहार्य नहीं है उसे त्याग करने का मैं हिन्दुओं से आग्रह कर रहा हूँ।

१०—मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार तो भङ्गी को जो मैल चढ़ता है वह शारीरिक है और वह मैल तुरन्त दूर हो सकता है। किन्तु जिन पर असत्य पाखण्ड का मैल चढ़ गया है वह इतना सूक्ष्म है कि उसको दूर करना बड़ा कठिन है। किसी को अस्पृश्य यदि गिन सकते हैं तो असत्य और पाखण्ड से भरे हुए लोगों को। इस वास्तविक मलीनता के लिए हमारे पास धैर्य और आन्तरिक स्वच्छता के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, किन्तु भङ्गी की मलीनता गहरी नहीं है प्रत्युत उसका उपाय भी सरल है। जिन्होंने अपने आप काम किया है वे जरूर साफ़ रहेंगे।

११—एक विचारशील विवेकी हिन्दू ने मेरे साथ बातें करते हुए कहा है कि हिन्दूधर्म में स्पर्श से–निकलते हुए श्वास से–भी सामने वाले पर असर पड़ता है इसलिए उससे दूर रहने की सूचना दी गई है। ऐसे सूक्ष्म परिणामों को समझकर, उससे बचकर, हिन्दू हज़ारों वर्ष तक टिक सके हैं और सुन्दर शास्त्रों की रचना कर सके हैं।

१२—यह बात मुझे तो इस प्रकार सच्ची मालूम होती है कि स्पर्श से–दुर्जन के सहवास से हम मैले हो सकते हैं और सत्सङ्ग से शुद्ध हो जाते हैं किन्तु यह सब तिरस्कार का समर्थन करने के लिए नहीं लिखा गया है और न समाज में विशृङ्खलता फैलाने के लिए, यह तो केवल एकान्त सेवा और संयम के लिए लिखा गया है। यह अन्त्यज के लिए नहीं प्रत्युत सब संसर्गों के लिए लिखा गया है हमें अपनी आत्मा को शुद्ध करना है

और यह स्वच्छता हम अन्त्यज बन्धुओं की सेवा कर, उनकी उन्नति कर सब प्रकार से पा सकते हैं। जो सदा दूसरे के दोषों का विचार कर उससे अलग रहते हैं वे तो पूरे पाखण्डी हैं क्योंकि दूसरे के दोषों का अवलोकन करते हुए वे अपने-आपको इतना पूर्ण मान लेते हैं कि हमारे लिए करने को कुछ भी नहीं रखते अर्थात् नीचातिनीच बन जाते हैं। भंगी-चमार तो अपने अन्दर ही बैठे हुए हैं, उनका बहिष्कार करना है, उनसे छूकर हमें नहाना है। दूसरे भंगी-चमार तो मैला काम करते हुए भी ऐसे अच्छे, ऐसे सरल, और ऐसे नीतिज्ञ हैं कि वे पूजा करने योग्य हैं। भंगी-चमारों ने दुर्गुणों और दूसरे वर्णों ने सद्गुणों का पट्टा नहीं लिखा लिया है।

१३—डाक्टर का कार्य सदा गन्दगी साफ़ करने का ही है। उसे कभी चौबीसों घण्टे काट-फांस का काम मिले तो उसे करने के लिए वह कभी इन्कार नहीं करेगा। अन्त में वह भी तो अपने निर्वाह के लिए मैल साफ़ करने का कार्य करता है। उस कार्य को हम परोपकार समझते हैं और उस डाक्टर का आदर करते हैं। मेरी दलील यह है कि डाक्टर का कार्य तो केवल बीमार का उपकार करना है किन्तु भंगी के कार्य से संसार का उपकार होता है और वह डाक्टर के कार्य से बहुत अधिक आवश्यक और पवित्र है। डाक्टर यदि अपना धन्धा छोड़ दे तो बीमारों को हानि पहुँचे किन्तु भङ्गी अपना कार्य छोड़ दे तो जगत् का नाश ही हो जाय इसलिए आवश्यक कार्य करनेवाले को अपवित्र गिनकर उसे दूर रखना बहुत बड़ा पाप है ऐसा समझना कुछ बुरा नहीं।

१४—भङ्गी-चमार का कार्य छोड़ने की प्रवृत्ति को मैं संसार के लिए बहुत हानिकर मानता हूँ।

१५—हमारे पास एक ही उपाय शेष है। जिस प्रकार डाक्टर के काम को हमने पवित्र समझा है उसी प्रकार भङ्गी के कार्य को भी पवित्र मानना चाहिए। हमको उन्हें अच्छे ढंग से रहने को प्रेरित करना चाहिए, उन्हें दूर रखने के बजाय पास रखना और उनकी सेवा करनी चाहिए। अपने पायखाने को अच्छा रखने की आदत डालनी और यदि खुद को भी साफ़ करने की आवश्यता मालूम पड़े तो उसके लिए तैयार रहना एवं सीखना चाहिए। जब हम भङ्गी के कार्य की पवित्रता को समझ जायँगे तो हमारे जो पायखाने आज नरक के सदृश हो रहे हैं रसोईघर के अथवा अपने बैठकघर के समान शुद्ध हो जायँगे। मेरा दृढ़-विश्वास है कि भङ्गी और उसके कार्य को तुच्छ गिनकर हमने अनेक रोगों को स्थान दिया है। ब्राह्मणों के घर मैंने भङ्गी के घर से भी मैले देखे हैं। भंगी के घर के पास पायखाना नहीं होता इसलिए वे स्वच्छ होते हैं। अपने पायख़ाने की गन्दगी और अपनी उस सम्बन्ध की बुरी आदतों से हममें प्लेग, हैज़ा आदि रोग घुस गये हैं और ये छूत से फैलते हैं ऐसा बहुत से विद्वान् डाक्टरों का निर्णय है। मुझे इस बात का खुद अनुभव है। अपने पाय-ख़ाने को हम ऐसी स्थिति में ला सकते हैं कि उसे साफ़ करने में किञ्चित भी घृणा न हो और जो उसमें घुसे उसे स्वच्छ और बिना दुर्गन्ध मालूम हो। अस्पृश्य के पाप से हम साम्राज्य के अस्पृश्य एवं भङ्गी ही नहीं बने प्रत्युत इस पाप के फल-स्वरूप हम रोगी भी बने एवं हमारे शरीर दुर्बल और तेजहीन हो गये हैं।

सवर्ण हिन्दुओं से विनय

'किलोन के भाषण में से'

"जिस प्रकार एक रत्ती संखिया से लोटा-भर दूध बिगड़ जाता है उसी प्रकार अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है।"

"दूध का गुण और इस्तेमाल और संखिया का गुण जानते हुए हम जिस प्रकार एक आदमी को दूध के लोटे के पास बैठे हुए संखिया तोड़ते देखकर घबरायँगे और दूध फेंक देंगे उसी तरह मैं बतौर हिन्दू के अनुभव करता हूँ कि अस्पृश्यता का अभिशाप हिन्दू-धर्म के दूध को जहरीला और अशुद्ध बना रहा है। इसलिए मैं मानता हूँ कि ऐसे मामले में धैर्य के लिए तारीफ़ नहीं की जा सकती। ऐसे मामलों में अपने को रोक रखना असंभव है। बुराई के साथ धैर्य रखने के मानी हैं, बुराई के और अपने साथ खिलवाड़ करना। इसलिए यह कहने में मैं झिझका नहीं हूँ कि ट्रावनकोर राज्य को इस सुधार के मामले में सबसे आगे रहना चाहिए और एक बारगी ही इस बुराई को नष्ट कर देना चाहिए। मगर मैं जानता हूँ कि जब तक हिन्दू जनता इसमें पूरी सहायता न देवे, किसी हिन्दू-राज्य के लिए भी इस बुराई को दूर करना असंभव है। और इसलिए मेरी विनय महारानी साहिबा के बदले ख़ासकर आप लोगों से होगी और इस सभा में बैठे हुए हर एक हिन्दू से मैं व्यक्तिगत विनय करना चाहता हूँ। आपने और मैंने, अछूतों के प्रति अपने कर्त्तव्य से बहुत दिनों तक लापरवाही दिखाई है और इस हद तक हम और आप हिन्दू-धर्म के झूठे प्रतिनिधि रहे हैं।

मैं बिना किसी हिचक के आपको सलाह देता हूँ कि जो कोई अस्पृश्यता का समर्थन करने आवे, आप उसकी बात तुरंत इन्कार कर दें। आप याद रखिए कि इस युग में एक आदमी या कई आदमियों की कोई मंडली कोई काम करती है तो वह काम अधिक दिनों तक छिपा नहीं रहता। हमारी जाँच रोज़ ही होती रहती है और जब तक हम अस्पृश्यता को रखे हुए हैं, हममें कमी बनी हुई है। संसार के सभी धर्मों की जाँच आज हो रही है। हमीं लोग शुतुरमुर्ग़ जैसे अपने अज्ञान में खतरे की ओर आँखें मूँद लेते हैं। मुझे इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि आज के इस झगड़े में या तो अस्पृश्यता का नाश हो जायगा या हिन्दू-धर्म ही ग़ायब हो जायगा। मगर मैं जानता हूँ हिन्दू-धर्म नष्ट नहीं हो रहा है, मरने भी नहीं जा रहा है क्योंकि मैं देखता हूँ कि अस्पृश्यता तो एक मुर्दा है, जो अपनी आखिरी साँस से थोड़ी देर और रहने के लिए लड़ रहा है।"

दो में से एक रहेगा

महात्मा गांधी या अस्पृश्यता

एक ही क्षेत्र के दो बलवान प्रतिस्पर्धी

"मैं इसी अवस्था में जीवित रह सकता हूँ—मेरे रहते अस्पृश्यता न रहेगी या अस्पृश्यता के रहते मैं न रहूँगा। हम इस क्षेत्र के दो प्रतिस्पर्धी हैं।"

तारीख दो दिसम्बर को तीसरे पहर 'फ्री प्रेस' के प्रतिनिधि ने भावी अनशन के सम्बन्धन में महात्मा गांधी से बातचीत

की। उसी समय आपने ये वाक्य कहे। प्रतिनिधि और गांधी जी में हुए प्रश्नोत्तर नीचे दिये जाते हैं—

प्रश्न—दलितबर्ग के उद्धार में गुरुवयूर एक छोटा प्रश्न है। राष्ट्र के वर्तमान पुनर्जीवन से उसे अधिक महत्व देना चाहिये ?

गांधी जी—वर्णाश्रमी हिन्दुओं के कर्तव्य के विचार से गुरुवयूर छोटा प्रश्न नहीं है। इस सम्बन्ध में 'हरिजनों का उद्धार' ये शब्द बिलकुल भ्रमपूर्ण हैं। मेरे विचार में अश्पृस्यता के सम्बन्ध में हिन्दुओं का मुख्य कर्तव्य उनके लिए मन्दिर खोल देना है। इस दृष्टि से गुरुवयूर छोटा प्रश्न नहीं।

प्रश्न—अस्पृश्यता-निवारण संघ ने अभी अभी अपना कार्य शुरू किया है। क्या यह न्याय है कि देश में अपना प्रभाव जमाने के लिये समय मिलने के पहले ही संघ को गुरुवयूर प्रश्न पर लड़ाई छेड़नी पड़े ?

गांधीजी—मैं संघ पर यह बोझ नहीं डालता और संघ का जन्म होने के पहले ही गुरुवयूर का प्रश्न जनता के सामने था। संघ से यही आशा की जायगी कि यह जो कुछ कर सकता हो, करे। पर यदि निश्चित समय के अन्दर मंदिर खोला न गया तो न संघ को दोष दिया जायगा, न इस कार्य में दिलचस्पी रखनेवाली किसी दूसरी संस्था को।"

प्रश्न—यदि यह सिद्ध हो जाय कि गुरुवयूर पूजा का निजी स्थान है तो क्या होगा ? क्या इससे वर्तमान स्थिति में कुछ फरक पड़ेगा ?

गांधीजी—हाँ, पूरा फरक हो जायगा। यदि यह सिद्ध हो हो जाय कि यह पूजा का निजी स्थान है तो अनशन न होगा।

प्रश्न—दक्षिण भारत के कट्टर लोगों के हृदय बदलने के लिये अब आपके विचार से क्या करना आवश्यक है ?

गांधीजी—सुधारकों को स्वयं ईमानदार होना चाहिये, कट्टर लोगों के साथ पूर्ण रूप से शिष्ट व्यवहार करना चाहिये और उन्हें याद रखना चाहिये कि वे सुधारक बनने के पहले कट्टर लोगों के ही समान थे।

प्रश्न—शंकराचार्य और अन्य धार्मिक गुरुओं का, जो अस्पृश्यता के पक्ष में हैं, कट्टर लोगों पर प्रभाव है। उनके बारे में क्या करना चाहिये।

गांधीजी—सुधारक जनता का मन बदलने के लिये कार्य कर रहे हैं और मैं स्वयं सुधारक की हैसियत से विश्वास करता हूँ कि लोकमत सुधारों की ओर झुक गया है। मैं इस बात पर एक क्षण भी विश्वास नहीं करता कि इस समय अधिकांश हिन्दुओं पर धार्मिक गुरुओं का प्रभाव है। यही बात गांवों के भी सम्बन्ध में है। जब लाभ-हानि की बात होती है तब गांववाले उनकी बातें सुन लेते हैं और जब यह प्रश्न नहीं होता तब वे अपने अंध विश्वास के अनुसार काम करते हैं।

प्रश्न—मान लीजिये कि शंकराचार्य यह 'फतवा' निकालें कि किसी हिन्दू को शराब न पीना चाहिये। तब ?

गांधीजी—तब वह 'फतवा' महज कागज का टुकड़ा ही रह आयगा। आत्म संयम के नियमों का स्वयं पालन करके और उनका प्रचार करके ही धार्मिक गुरु अपने पद को उचित सिद्ध कर सकते हैं।

प्रश्न—आपका स्वास्थ्य इस समय बहुत कमजोर है।

ऐसी हालत में आप दूसरा अनशन कैसे करेंगे ?

गांधीजी—मेरे लिये ऐसी इच्छा करना संभव नहीं कि अनशन शुरू करने के पहले, जिसे मैं ईश्वर का आदेश मानता हूँ, मेरा शरीर बलवान हो जाय। यदि मेरा शरीर कमजोर है तो मैं अनशन करने के लिये अधिक योग्य हूँ। इसका यह अर्थ है कि कष्टों का शीघ्र अंत होता है।

प्रश्न—उन लाखों लोगों के कष्टों का क्या होगा जो आप पर श्रद्धा रखते हैं ?

गांधीजी—ओह ! क्या यह लाखों लोगों को कष्ट देने के लिये है ? जो मुझसे प्रेम करते हैं वे अपना प्रेम स्पष्ट रीति से प्रकट करेंगे और तब उसकी अवहेलना की जा सकेगी। फल यह होगा कि मैं जीवित रहूँगा और अस्पृश्यता चल बसेगी मेरे जीवित रहने की शर्त यही है—या मैं जीवित रहूँगा और अस्पृश्यता का अंत हो जायगा, या अस्पृश्यता बनी रहेगी और मेरा अंत हो जायगा। हम इस क्षेत्र के दो प्रतिस्पर्धी हैं।

सनातन धर्म को अपनी बपौती बना ली है।

जिन्होंने सनातनधर्म को अपनी बपौती बना ली है उन्हें आश्चर्य करना या हाय-तोबा मचाना न चाहिये, यदि उनके विरोधी भी उन्हीं वेदों से सुधार के लिये प्रमाण देते हैं जिनपर सनातनी विश्वास करने का दावा करते हैं। संस्कृत में पूर्ण पारंगत ऐसे शास्त्रियों का दल बढ़ रहा है जो विश्वास करते हैं कि सार्वजनिक मन्दिरों में अस्पृश्यों को आने देना हिन्दू-धर्म के न केवल अनु-

फूल ही है वरंच इन मन्दिरों में अन्य हिन्दुओं के साथ इन्हें पूजा करने से रोकना गलत है। इन पंडितों का यह भी विश्वास है कि जन्म से कोई अस्पृश्य नहीं होता और अस्पृश्यता ऐसा विषय नहीं जो किसी प्रायश्चित्त के द्वारा दूर न हो सकती हो। वे अस्पृश्यता में विश्वास करते हैं पर इसका सम्बन्ध कार्य और धंधों से है। पर यह हिन्दू-धर्म की विशेषता नहीं। यह सब धर्मों में है और इसका आधार स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुन्दर सिद्धांत हैं।

मेरा यह भी विश्वास है कि प्रस्तावित कानून के सम्बन्ध में जो भय उत्पन्न हुआ है उसका भी आधार अज्ञान ही है। जहाँ तक मैंने इस प्रस्ताव को समझा है, इसका केवल इतना ही अर्थ होता है—यदि किसी मन्दिर में पूजा करनेवाले को तिहाई आदमी कानून द्वारा निर्धारित मार्ग से अपनी इच्छा प्रकट करें तो उस मन्दिर को हरिजनों के लिये अन्य हिन्दुओं के ही समान खोल देना चाहिये। मेरा मत है कि यह प्रस्ताव इतना निर्दोष है कि किसी समझदार आदमी को इस पर कुछ आपत्ति नहीं हो सकती।

सुधार के विरोधियों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि सुधारक क्या करना चाहते हैं। जैसी वस्तुस्थिति है उसे देखते हुए मुझे यह कहते खेद होता है कि सुधार के विरुद्ध आंदोलन वस्तुस्थिति की उपेक्षा करके चलाया जा रहा है और ऐसे वक्तव्य प्रकाशित किये जा रहे हैं जो सत्य के विरुद्ध हैं तथा निराधार आक्षेप और अभियोग लगाये जा रहे हैं। ऐसे उपायों से सुधार को कुछ हानि नहीं पहुँच सकती यदि सुधार स्वयं निर्दोष हो, पर इससे हिन्दू-धर्म को हानि पहुँचती है यदि

सुधारक या उनके विरोधी ऐसे उपायों का सहारा लेते हैं जो न्याय्य और निष्पक्ष नहीं।

शास्त्र और अन्तर्ध्वनि का अर्थ

अनेक पत्र लेखकों ने मुझसे पूछा है—आप कहते हैं कि मैं शास्त्रों को मानता हूँ, पर हम इसका अर्थ नहीं समझ पाते, कारण आप ऐसी बहुत सी बातों को अमान्य करते हुए दिखाई देते हैं, शास्त्र जिनका समर्थन करता है। जिस गीता की आप दुहाई दिया करते हैं, वह भी शास्त्रों का अनुसरण करने का आदेश करती है।

शास्त्रत्व की कसौटी

जो कुछ गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत हैं वह मेरी दृष्टि में शास्त्र नहीं है। अपने आशय को और स्पष्ट करने के लिये मैं कहना चाहता हूँ कि सदाचार के सर्व-स्वीकृत, सर्वदेशीय मूल सिद्धातों से जिसका मेल नहीं है वह मेरे लिये शास्त्रवत् प्रमाण नहीं हो सकता शास्त्र उन मूलतत्वों को पदच्युत करने के लिये नहीं, किन्तु उनका पोषण करने के लिये ही बनाये गये हैं। गीता से इसीलिये मेरी सम्पूर्ण धर्म-जिज्ञासा की तृप्ति हो जाती है कि वह उन सिद्धान्तों को पोषक ही नहीं करती, उनका अनुसरण क्यों कर्तव्य है, इसका हेतु भी देती है। इस कसौटी के बिना मुझ जैसे साधारण मनुष्य बहुसंख्यक संस्कृत ग्रंथों के परस्पर विरोधी वचनों के जंगल से कभी पार ही न पा सकेंगे। स्मृतियाँ अनेक हैं। कुछ का, उन सौ दो सौ मनुष्यों की मण्डली को छोड़कर जो उसमें श्रद्धा रखते हैं, नाम तक लोग नहीं जानते। कब कहाँ उनकी रचना हुई, कोई नहीं बता सकता।

दक्षिण में मुझे ऐसे एक ग्रंथ के दर्शन हुए थे। अपने विद्वान् मित्रों से मैंने उसके विषय में पूछा तो उन्होंने कहा कि हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते। इसी प्रकार बहुसंख्यक ग्रंथ हैं जिनके वचन एक दूसरे का खण्डन करते हैं और कुछ विशेष स्थानों को छोड़कर अन्यत्र कोई उनके पालन की परवाह नहीं करता।

यदि ये सभी ग्रन्थ हिन्दुओं के लिये शास्त्रवत् मान्य हों तो फिर शायद ही कोई ऐसा पाप हो जिसके लिये किसी न किसी शास्त्रीय वचन की अनुमति न हो। यहाँ तक कि मनुस्मृति में भी, यदि उसके संदिग्ध वचन अलग न कर दिये जायँ तो, ऐसे कितने ही वचन मिलेंगे जो उन धर्मों और सदाचारों का भी खण्डन करते हैं जो इस ग्रंथ के अनुसार सर्वोच्च धर्म और सदाचार है और जिनका उपदेश संपूर्ण ग्रंथ में स्थल स्थलपर किया गया है।

अतः गीता में प्रयुक्त शास्त्र शब्द का, मैं जो अर्थ करता हूँ उसके अनुसार शास्त्र माने कोई ग्रन्थ गीता से बाहर के आचार नियमों का कोई समुदाय नहीं है, किन्तु वह सदाचार है जिसकी शिक्षा हमें किसी जीवित अधिकारी पुरुष के चरित्र से मिलती हो।

मैं जानता हूँ कि मेरी इस व्याख्या से टीकाकारों को संतोष नहीं हो सकता, और मुझको शास्त्रों की विशेष जानकारी न रखनेवाला व्यक्ति इस विषय में किसी को रास्ता दिखाने की योग्यता नहीं रखता, पर शास्त्र शब्द का अर्थ मैं क्या करता हूँ यह बताकर मैं अपने टीकाकारों का कुतूहल अवश्य तृप्त कर सकता हूँ।

अन्तर्ध्वनि का अर्थ

दूसरा प्रश्न यह है और यह भी उतने ही आग्रह के साथ पूछा जा रहा है कि ईश्वरीय संकेत अथवा अन्तर्ध्वनि शब्दों से आपका क्या अभिप्राय होता है और यदि हर एक आदमी अपने पड़ोसियों से सर्वथा भिन्न रूप में यह संकेत पाने का दावा करने लगे तो आपकी और दुनिया की क्या स्थिति होगी?

यह प्रश्न उचित है। निश्चय ही यदि ईश्वर ने इसका उपाय न कर रखा हो तो हम बड़ी कठिनाई में पड़ जाते। अतएव यद्यपि सब लोग ऐसा संकेत वा आदेश पाने का दावा कर सकते हैं, पर उसकी सत्यता का प्रमाण बहुत थोड़े ही दे पावेंगे। जो आदमी झूठमूठ ईश्वरीय संकेत अथवा अन्तरात्मा का आदेश पाने का ढोंग करेगा उसकी गति उससे भी बुरी होगी जो किसी पार्थिव शक्ति वा सम्राट के आदेश पर काम करने का झूठा दावा करता है। भंडाफोड़ होने पर जहाँ इसकी केवल शारीरिक क्षति ही होकर रह जायगी, ईश्वर के नाम पर ढोंग रचनेवाला देह और आत्मा दोनों से नष्ट हो जायगा।

उदार आलोचकों ने मुझपर मक्कारी का इलजाम तो नहीं लगाया है पर कहते हैं कि बहुत सम्भव है कि आपको भ्रांति हुआ करती हो। पर भ्रांति और ढोंग दोनों दशाओं में मेरे लिये परिणाम प्रायः एक सा ही रहेगा। मुझ जैसे विनीत जिज्ञासु को बहुत सतर्क रहना पड़ता है और चित्त को साम्य बनाये रखना पड़ता है। जब तक मनुष्य अपने आपको मिटाकर शून्यवत् न कर देगा तब तक ईश्वर उसका पथप्रदर्शक न बनेगा।

इस बात को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं। मैंने जिस बात का दावा किया है वह कोई असाधारण बात नहीं है, और न यह बात है कि वह केवल मुझी तक परिमित हो। ईश्वर उन सभी स्त्री-पुरुषों के जीवन का नियमन और संचालन करेगा जो पूर्ण रूप से उसे आत्मसमर्पण कर देंगे। गीता के शब्दों में भगवान उन्हीं को अपना निमित्त बनाते हैं जिन्होंने पूर्ण अनासक्ति प्राप्त कर ली हो अर्थात् अपने अहंकार को पूरी तरह मिटा दिया हो। इसमें भ्रांति होने न होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मैंने एक सरल वैज्ञानिक सत्य कहा है जिसकी जांच हर एक आदमी कर सकता है, बशर्ते कि उसमें आवश्यक अधिकार-सम्पादन के लिये दृढ़ संकल्प तथा धैर्य हो।

अन्त में मुझे यह कहना है कि मेरे दावे को लेकर किसी को परेशान न होना चाहिये। मैं जनता से जो कुछ करने को कह रहा हूँ उसका समर्थन युक्ति और बुद्धि से भी किया जा सकता है। मेरे इस कार्यक्षेत्र में न रह जाने पर भी अस्पृश्यता को तो हटाना ही होगा। मेरा अनशन ईश्वर-द्वारा प्रेरित है वा नहीं, इसकी उलझन मेरे घनिष्ठ मित्रों को भी न होनी चाहिये। वे मेरे प्रति अपनी ममता के कारण इस कार्य में द्विगुणित शक्ति से उद्योग कर सकते हैं। यदि अन्त में यही साबित हुआ कि मेरा अनशन एक हठी मनुष्य की नासमझी का नतीजा था, तो भी यह कोई विपत्ति न होगी। जिनके हृदय में न मेरे लिये ममता है और न श्रद्धा, उनपर इसका कुछ भी असर न होगा। अतः मेरे संकल्पित अनशन अथवा उसके ईश्वरादिष्ट होने के मेरे दावे की बहस बार बार उठाने से जनता के दुविधा में पड़ जाने

और उसका ध्यान उस महान कार्य की ओर से हट जाने की सम्भावना है, जो राष्ट्र के सामने उपस्थित है।

गांधीजी का अनशन

श्रद्धेय भगवान्दासजी के विचार

आज से ढाई हजार वर्ष पहिले इस भारत-भूमि में बुद्धदेव ने जन्म लिया और अपनी घोर तपस्या के बल से, अपने जीवन-काल में, गंगा के किनारे किनारे घूमकर, उत्तर भारत के मानव संसार की प्रवृत्ति को अनाचार, दुराचार, भेदभाव, हिंसा, असत्य, आदि आसुर भावों से फेरकर, अहिंसा, सत्य अस्तेय, सदाचार आदि की ओर लगाया, जिसका फल यह हुआ कि प्रायः एक सहस्र वर्ष तक भारतवर्ष का इतिहास, अंधकार से निकलकर उज्ज्वल प्रकाश में रहा। आज, ढाई हजार वर्ष के बाद फिर एक ऐसे उत्कृष्ट जीव ने यहाँ जन्म लिया है जिसने, अपने जीवन-काल में, न केवल उत्तर या पश्चिम या दक्षिण या पूर्व भारत का, न केवल समस्त भारत का, बल्कि पृथ्वी-तल के सभी महाद्वीपों और सभी वर्षों का, सभी सभ्य देशों और जातियों का ध्यान, व्यक्ति और जाति के उद्धार के उन्हीं एकमात्र शाश्वतिक उपायों की ओर, अहिंसा और सत्य आदि की ओर, अपने घोर सत्याग्रह और अहिंसाग्रह से, अपनी उग्र तपस्या और स्वार्थ-त्याग से, खींचा है। बुद्धदेव के समय में वार्त्ता के प्रचार की सामग्री वैसी न थी, जैसी आज रेल, तार, जहाज, विमान, छापा प्रभृति से है। इस हेतु से महात्मा गांधी की

तपस्या और सद्भाव और शुभ ध्यान का प्रसार प्रचार बहुत अधिक व्यापक और थोड़े ही काल में हुआ।

यह त्यागविभूतिमत्, तपःश्रीमत्, सत्य के बल से ऊर्जित, तेजोंऽशसंभव ईश्वर की कला भारत-भूमि पर इसीलिये भेजी गयी है कि सब मानव-संसार का भला करे, दंभ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि अधर्ममय आसुर भावों से ग्लानि, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहरूपी मूल धर्म का, अपने अद्भुत तपस्यामय आचरण से, जीवन से, मानवसंसार के चित्त में पुनर्व्यवस्थापन करे, जिस मूलधर्म के पालन से ही मनुष्यों का कल्याण हो सकता है। मनु की आज्ञा है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्, भारतवर्ष में जन्म लिये अग्रजन्मा ज्येष्ठ सत्पुरुष महापुरुष से, समस्त पृथिवी के सब मानव सच्चरित्र सीखें, अपना अपना कर्तव्य सीखें। मनु की यह आज्ञा महात्मा गांधी के शरीर से आज यथाकथंचित् चरितार्थ हो रही है।

ऐसे उत्कृष्ट जीव ने प्रायोपवेशन की, आमरण अनशन की, भीष्म-प्रतिज्ञा इस संकेत से की है, कि भावी स्वराज्यविधान में, अछूत हिन्दू और छूत हिन्दू का नाम देकर, दो पृथक् पृथक् निर्वाचनक्षेत्र बनाकर, हिंदू-समाज के परस्पर विवदमान दो खंड सदा के लिये न हो जाने पावें—यह सुनकर सभी भारत के शुभचिन्तक सज्जनों का हृदय कम्पमान हो रहा है। ऐसे निस्स्वार्थी परमार्थी महापुरुष की कृतियों का अर्थ, मेरे ऐसे तपस्याहीन स्वार्थी जीवन बितानेवाले जीव के लिये, समझना कठिन है। बहुधा शंका में पड़

जाता हूँ, और अपनी शंकाओं को असमय कुसमय कहता रहता हूँ। तो भी, हृदय में दृढ़ विश्वास है कि महात्माजी के परम शुद्ध हृदय में जो कुछ प्रेरणा उठेगी वह परमात्मा की ओर से ही आई होगी, और ऋतसत्य ही होगी, लोकोपकारी ही होगी, और इस श्रद्धा को मन में बाँधकर सब भारतवासी बंधुओं के साथ-साथ मैं भी उनके पीछे पीछे-पीछे चलने का यत्न करता हूँ। जब से इस प्रतिज्ञा का हाल सुना तब से इस विचार में पड़ा हूँ कि इसी छूत-अछूत के प्रश्न पर क्यों ऐसी भीषण प्रतिज्ञा बाँध ली। इससे तो, सरसरी निगाह से देखने में और भी बड़े बड़े प्रश्न पड़े हैं, और इस प्रश्न का निपटारा इस प्रतिज्ञा से कैसे होगा, इत्यादि व्यर्थ शंका मन में उत्पन्न होती रहीं। अन्त में यही भाव मन में उदय हुआ कि नहीं, यह प्रश्न देखने में चाहे अन्य प्रश्नों से कम गंभीर जान पड़ता हो, पर है सबसे बड़ा। प्राचीनकाल में इस देश में अभेद बुद्धि का, अद्वैत भाव का, सब ही जीवात्मा एक परमात्मा के अंश हैं, इसका, डिंडिम था, और विश्वास भी था। और जब तक यह विश्वास सचमुच था तब तक देश में सब प्रकार का परस्पर सहयोग, स्वातंत्र्य, समृद्धि सुख था। जब से यह अभेद बुद्धि घटी और परस्पर भेदभाव और परस्पर असहयोग बढ़ा, तभी से इस देश का पतन हुआ, अनन्त आपत्तियाँ आईं, सुख स्मृद्धि का नाश हुआ, और दुर्बल निर्बल होकर दूसरे देशों के पद से दलित हुआ।

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

ऐसे उदाहरणों को देखकर आज हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा कृत्य यह हो गया है कि जैसे हो तैसे छूत अछूत का दुराव बराव भेदभाव मिटा दें।

पुरानी पुस्तकों में लिखा है—

धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हंतव्यो मा नो धर्मो हतो बधीत ॥

धर्म यदि मरा तो मनुष्य व्यक्ति मनुष्य जाति भी मरी। धर्म की रक्षा हुई तो मनुष्य व्यक्ति जाति की भी रक्षा हुई। धर्म का नाश न होने पावे, नहीं तो हमारा भी नाश हो जायगा। ऐसी बातों को सुनकर हम लोगों को धर्म धर्म धर्म पुकारने का अभ्यास तो पड़ गया है, पर धर्म का सच्चा स्वरूप सर्वथा भूल गये हैं। जिन मनुजी ने उक्त श्लोक कहा उन्होंने यह भी कहा है—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

जो तर्क से, हेतु से, धर्म का अनुसन्धान कर लेता है, जान लेता है कि इस हेतु से यह धर्म बनाया गया है, वही तो धर्म को ठीक ठीक जानता है, दूसरा नहीं जानता। व्यास महर्षि ने भी शांतिपर्व में इसका अनुवाद किया है।

कारणैर्धर्मन्विच्छेन्न लोकं विरसं चरेत्।
कारणैर्धर्मन्विच्छन्स लोकानाप्नु ते शुभान्।
अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले ॥

कोई भी सच्चा धर्म बिना कारण के नहीं होता। प्रत्येक धर्म के हेतु को जानकर आचरण करना, तभी शुभ लोकों की प्राप्ति होती है।

अँग्रेजी में कहावत है, 'दि रीजन्स गोईंग दि ला गोज' अर्थात् जब किसी कानून के हेतु उठ जाते हैं तो कानून भी उठ जाता है।

तो, भाइयों, बहिनो, अस्पृश्यता, अछूतपन, के कारणों को विचारिये। हिन्दुओं में वयःप्राप्त सभी स्त्रियाँ, सभी वर्णों जातियों की, महीने में तीन दिन अछूत हो जाती हैं। गमी हो जाने से, सभी जातियों में, मृत मनुष्य के रिश्तेदार दस दिन को अछूत हो जाते हैं। किसी का हाथ पैर, अथवा सर्व शरीर, किसी विशेष मलस्पर्श से, मैला हो जाय; तो सभी जातियों में नहा-धोकर स्वच्छ शुचि होने तक वह अछूत हो जाता है। अपने को पवित्र से पवित्र माननेवाले हिन्दू नित्य सवेरे उठते ही अपने लिये मेहतर का काम करते ही हैं, और स्वयं अछूत हो जाते हैं, फिर नहा-धोकर छूत बनते हैं। निष्कर्ष यह कि गन्दगी से परहेज़ करना चाहिये, आदमी से नहीं।

हिन्दुओं के विश्वास से भी ब्रह्मदेव के शरीर से निकले चार पुत्र, चार सगे भाई ही न होंगे। अग्रजन्मा, अनुजन्मा बड़े और छोटे भाई, कहलाते ही हैं। फिर किस भाई—को अधिकार है कि किसी भाई को अछूत कहे, और ब्रह्मदेव के, पिता पितामह के, दर्शन के लिये उनके मन्दिर में जाने से वर्जन करे? यह सब केवल अहंकार-तिरस्कारजनित दुराव बराव है, और इसने सारे हिन्दू-समाज के शरीर में जहर भीन दिया है। यदि सच्चे सहेतुक सिद्धान्तभूत धर्म के हम लोग पक्षपाती हों तो हमको चाहिये कि सब मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों पर ये दो श्लोक मोटे-मोटे अक्षरों में लिखकर लगा दें।

स्पृश्यास्पृश्यविवेके तु जातिनाम न कारणम् ।
किंत्ववस्था मनुष्याणां निर्मला समलाऽथवा ॥
भक्त्या पूतं मनो येषां देहःस्नानादिभिस्तथा ।
ते सर्वे स्वागताह्यत्र देवदर्शनकांक्षिणः ॥

अर्थात्

छूत अछूत विवेक में जातिनाम नहिं केतु ।
निर्मलता वा मलिनता मनुजन को ही हेतु ॥
चित्त शुद्ध है भक्ति से स्नानादिक से देह ।
जिनको वे स्वागत सभी बन्धु देव के गेह ॥

जिनको कोई संक्रामक रोग हो, जिनका शरीर और वस्त्र स्वच्छ न हो, नहाया-धोया न हो, उनको तो चाहे उनकी जाति कुछ भी हो, देव-मन्दिर और तीर्थ-स्थानों में जाने से रोकना, और तभी तक रोकना जब तक वे निर्मल न हो जायँ उचित है, क्योंकि दूसरों को प्रत्यक्ष क्लेश पहुँचने का भय है। अन्यथा एक भाई को दूसरे भाई के रोकने का, या उससे पूछने का कि तुम कौन जाति हो, कोई अधिकार नहीं। इस हेतुमान् युक्तियुक्त सद्धर्म के भाव के फैलने से इस प्रश्न का आत्यंतिक निपटारा हो सकता है। और आशा है कि महात्माजी की दारुण प्रतिज्ञा से हिन्दू जनता का हृदय बदल जाय और यह कार्य सिद्ध हो जाय। अवान्तर कार्य, उन सज्जनों को समझा लेना जिनके बल पर मैकडोनल्ड महाशय ने वह निर्णय किया जिसके हेतु से महात्माजी को यह भीषण व्रत धारण करना पड़ा—यह कार्य अन्य सज्जन, हिन्दुओं के छूत तथा अछूत समुदायों के नेता, कर लेने का प्रयत्न कर रहे हैं, और हम सबको एक चित्त

से मनाना चाहिये कि कर लेने में वे कृतार्थ हों। अंग्रेजी मंत्री लोग तो पुनः पुनः कह रहे ही हैं, मैकडोनल्ड महाशय के ८ सितम्बर के पत्र में भी यही कहा है कि, हिन्दुस्तानी लोग अपना समझौता आपस में यदि कर लें तो हम उसको अवश्य मानेंगे। नहीं तो उनको अङ्गरेजों का किया निर्णय मानना पड़ेगा। महात्माजी का यह महाव्रत तो हम लोगों के लिये चाबुक स्वरूप है, कि सीधे रास्ते पर चलो, और जल्दी चलो, जल्दी आपस में समझौता करो। किन छूत-अछूत प्रतिनिधियों के समझौते को मैकडोनल्ड महाशय समझौता मानेंगे—यह बात हमारे नेता लोग उनसे उचित रीति से तै कर ही लेंगे।

"सूर्य तो आकाश में प्रत्यक्ष है, पर यदि उसकी ओर आँख फेरी ही न जाय तो कैसे देख पड़े? मनुष्य-समूह का आँख फेरना, उसका हृदय सद्धर्म की ओर मोड़ना, उसका कल बदल देना—यह महात्माओं, रसूलों अवतारों के आत्मबल, तपोबल, का ही काम है। ऐसा काम महात्माजी की इस भीषण प्रतिज्ञा से होनेवाला है और हो रहा है। ज्योंही दिल बदला अहंकार मिटा, त्योंही यह सत्य, जो सदा स्पष्ट है, झट देख पड़ने लगेगा कि बराव बचाव गन्दगी से करना चाहिये, और मनुष्य से, भाई बहिन से जाति के नाम और नाम की जाति से नहीं। अन्त में, इतना और कहना है कि कल के समाचार-पत्र में मैंने पढ़ा कि असेम्बली में गवर्मेंएट की ओर से हेग नामक महाशय ने यह कहा है कि महात्मा गांधी के इस नये ढङ्ग से गवर्नेमेंएट का किसी बात को मान जाना असम्भव है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो गवर्मेंएट एक नये प्रकार के हुकूमत की मातहती में पड़ जायगी।

इसके उत्तर में क्या कहा जाय, सिवाय इसके कि, हे भाई हेग महाशय! आप ढङ्ग की नवीनता से ही इतना क्यों घबराते हो? रेल, तार, विमान आदि बहुत सी वस्तु रोज रोज नई बनती निकलती हैं जिनको आप उत्सुकता से अपनाते हो। क्या आपका पुराने पोलिटिकल ढङ्गों से अभी तक पेट नहीं भरा? इन्हीं पुराने ढङ्गों से तो अभी यूरोप में महायुद्ध हुआ और सारी पृथ्वी खून से तर कर दी गई। क्या उन्हीं को फिर फिर बरतना चाहते हो? लीग आफ नेशन्स भी तो नया ही ढङ्ग है। उसको भी दुत्कारना चाहते हो क्या? हे भाई! इन पुराने ढङ्गों को हटाकर, इस नये ढङ्ग को संसार में चला देने के लिये ही तो महात्मा का अवतार हुआ है। यदि ईश्वर आपको थोड़ी भी सद्बुद्धि दे तो आप उसको दोनों हाथों से थामकर अपने हृदय से लगा लो। और फिर यह ढङ्ग तो नया भी नहीं है। आपके धर्मगुरु ईसामसीह ने इसीको पश्चिम के देश फिलिस्तीन में दो हजार वर्ष पहिले सिखाया समझाया। यदि आप और आपके सजातीयों की आंखों पर से ऐश्वर्यमद का पर्दा हटे, और आप इस ढङ्ग का आदर करो, और उसको अपनाओ, और बलात्कार के स्थान में सद्बुद्धि और लोकहितैषिता से काम लो, तो हमारा भी भला हो और आपका भी भला हो, और समस्त पृथ्वीतल पर सद्भाव फैले, और सद्भाव के पीछे पीछे सुख समृद्धि दौड़े।

अस्पृश्यता-निवारण

पर

श्री भगवानदासजी की सिंह-गर्जना

योदेवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ॐ॥

प्रिय बन्धुबान्धव सज्जन,

वृद्धों से हम लोगों को यह शिक्षा मिली है कि,

यं तु रक्षितुमिच्छति न देवा पशुपालवत् ।
दंडमादाय रक्षंति सद्बुद्ध्या योजयंति तम् ॥

तथा,

यं तु हिंसितुमिच्छन्ति न देवा पशुमारवत् ।
दंडमादाय हिंसन्ति, दुर्बुद्ध्या योजयंति तम् ॥

देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, अपने हाथ में स्वयं दंड लेकर, उसकी रखवाली नहीं करते, उसको सद्बुद्धि, उत्तम बुद्धि, देते हैं, जिसके बल पर वह आप अपनी सब प्रकार की भलाई सहज में कर लेता है। ऐसे ही, जिसकी देवता हिंसा करना चाहते हैं उसको स्वयं अस्त्रशस्त्र से, दंड से, नहीं मारते, उसकी बुद्धि बिगाड़ देते हैं, उसको दुर्बुद्धि देते हैं, जिससे वह आप अपना नाश कर डालता है ।

भारत सैकड़ों वर्ष से नीचे गिरता ही चला जा रहा है, और इस अवनति अधोगति का मूल कारण आपस के भेद-भाव, फूट, और बैर की दुर्बुद्धि, है—यह सबको अब प्रत्यक्ष के ऐसा है । इसको सिद्ध करने के लिये इतिहास की उद्धरणी

करके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। यदि यह दुर्बुद्धि बढ़ती ही जाती तो भारत-जनता का नाश निश्चयेन हो जाता। पर ऐसा जान पड़ता है कि अन्तरात्मा परमात्मा को इस देश और इस जनता का नाश इष्ट नहीं है, प्रत्युत फिर से इसकी उन्नति, इसका उत्कर्ष, इष्ट है। क्योंकि साठ सत्तर वर्ष से सद्बुद्धि देने का यत्न कर रहा है।

वेदों में 'सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' की चर्चा है। यहाँ सहस्र शब्द का अर्थ असंख्य है। भारत का जन-समुदाय द्वात्रिंशत्कोटिशीर्षा, बत्तीस करोड़ सिरवाला, विराट् पुरुष है। इसको सद्बुद्धि देने का क्या उपाय है? तो सच्चे, अच्छे, सात्त्विक बुद्धिवाले, तपस्वी, विद्वान्, निःस्वार्थी, अनुभवी, परार्थी, देशहितैषी, देश का भला चाहनेवाले जो नेता हैं वे ही सद्बुद्धि रूप हैं। इधर साठ सत्तर वर्ष से भारत का भला चाहनेवाले नेताओं को इस देश में उत्पन्न कर रहा है। यदि आपलोग सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे तो प्रायः आपको यही देख पड़ेगा कि जितना ही अधिक भेदभाव मिटाने का और एकता, एकबुद्धिता, बढ़ाने का प्रयत्न जिसने किया उतना ही बड़ा और माननीय नेता वह हुआ। आज बारह पन्द्रह वर्ष से प्रधान नेता का स्थान और परमात्मा का पद भारत के हृदय ने महात्मा गान्धीजी को दे रक्खा है। इसका हेतु यही है कि ये नितान्त सच्चे हृदय से सबका मेल चाहते हैं, सच्चे अजातशत्रु हैं, किसीको अपना शत्रु नहीं समझते, न कोई इनको अपना शत्रु जानता है, भारत में क्यों सब पृथ्वीतल के रहनेवाले सब वर्गों का, सब धर्म मजहबवालों का, एका और सौमनस्य चाहते हैं,

सबका भला मनाते हैं, इसके लिए दिन-रात अन्तरात्मा से प्रार्थना करते हैं। और, बीच-बीच में अनशन रूप घोर तपस्या करते हैं। भीष्म ने महाभारत में कई बार कहा है।

तपो नानशनात् परम्।

तपः परं नानशनान्मतं मे।

जिसने आहार त्यागा उसने सर्वस्व त्यागा। इससे बढ़कर तपस् हो नहीं सकता।

ऐसे प्रधान नेता का मुख्य काम, उनकी इन सब घोर तपस्याओं का एक मात्र उद्देश्य, यदि आप जाँचोगे तो यही जान पड़ेगा कि फूट-बर मिटाकर, भारत के परस्पर विवदमान कलहायमान वर्गों में, एका, स्नेह प्रेम सौमनस्य बुद्धिसाम्य स्थापित हो जाय। भारतीय समाज के सब अंगों में, अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी, जैन, बौद्ध आदि में, हृदय की एकता हो जाय, इसका आपने भारी यत्न किया। और उसमें बहुत कृतार्थ भी हुए। पुरानी पुश्त पर चाहे प्रभाव कम पड़ा हो, पर तौ भी पड़ा, और नयी पुश्त पर तो बहुत पड़ा है।

सच्चा महापुरुष वह है जिसके दर्शन स्पर्शन से क्षुद्र पुरुष भी महापुरुष नहीं तो पुरुषार्थी पुरुष तो हो जायँ। सोना से बहुत बढ़कर वह पारस पत्थर है जिसके परस से लोहा ताम्बा सीसा रांगा भी सोना हो जाय।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

जो महापुरुष अहिंसा के व्रत में सच्चे प्रतिष्ठित परिनिष्ठित हो गये हैं, उनके चारो ओर की हवा में ऐसा प्रभाव हो जाता है कि उनके पास जो आता है, यदि हिंस्र पशु भी हो,

तो भी उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, और वह भी वैर-भाव को त्याग देता है। सो महात्माजी ने इस योगसूत्र को प्रत्यक्ष कर दिया है। जैसा शिष्ट सद्ज्ञानी तपस्वी के लिये मनु ने लिखा है, 'श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः'। हजारों मनुष्य आज उनके अनुव्रत हो रहे हैं, तरह-तरह की तपस्या का अभ्यास कर रहे हैं, देशोन्नति में तत्पर हैं।

आचारेण शिक्षयति इति आचार्यः। जो अपने सदाचरण के उदाहरण से दूसरों को सदाचार की शिक्षा दे वही सच्चा आचार्य। केवल मुख से दूसरों को उपदेश दे और आप न करे उसको कोई नहीं मानता, प्रत्युत झूठा जानता है। ऐसी सच्ची तपस्या के ही बल से, भारतमाता के चिरकाल से धूल में लोटते हुए सिर को, महात्माजी ने कुछ उठाकर धोया-पोंछा है, और निरन्तर ऊँचा उठाने, स्वच्छ करने, तथा भारतमाता को अपने पैरों पर खड़ा कर देने के यत्न में लगे हैं। इसीलिये धार्मिक विवादों के, विशेषकर हिन्दू-मुसलमानों के, विवादों को मिटाने का आपने यत्न किया है। दोनों धर्मों में केवल शब्दों का भेद है, मूल सिद्धान्त एक ही है, यह इस यत्न की पूर्ति के लिये—आवश्यक काम यह विशेष रूप से दिखा देने का दूसरों के करने का है। इस महायत्न के साथ-साथ आपका भारी यत्न सदा से हिन्दू कहलानेवाले समाज के सब अंगों में परस्पर दुराव-बराव के भेदभाव और द्रोहभाव को दूर करने का होता रहा है। इन भेदभावों को हटाने में पुराने दूरदर्शी नेता भी यत्न करते ही रहे। पर महात्माजी ने अद्भुत लगन और दारुण तपस्या से इस काम को उठाया है। और कुछ दिनों से अपनी

सारी शक्ति, कारावास के भीतर से वर्त्तमान शासकवर्ग की अनुमति से, इसी कार्य में लगा रहे हैं। बीते आश्विन के महीने में सौर तिथि ४ आश्विन से १० आश्विन तक जो अनशन व्रत आपने किया उसका फल यह हुआ कि सैकड़ों मन्दिरों के द्वार सारे देश में हरिजनों के लिये खुल गये।

पर मुख्य कर्तव्य तो यह है कि त्रैवर्णिक कहलानेवाले सज्जनों के हृदय के द्वार हरिजनों के लिये खुल जायँ। अभी तक तो महात्माजी पर भक्ति-श्रद्धा-प्रेम के कारण, व्रत से उनके शरीर का त्याग हो जाने की सम्भावना के भय के कारण, बहुतेरे मंदिरों के किवाड़ खुले। अवश्य कुछ के कपाट सच्चे सिद्धान्त के ग्रहण से भी खुले पर सारे देश में भाव के ठीक-ठीक परिवर्त्तन हो जाने की बड़ी आवश्यकता है। तभी यह कार्य बद्ध-कुल होगा। ऐसा होने के लिये आवश्यक है कि देश का जो महात्माजी पर घनिष्ठ प्रेम और भक्ति है, उसके साथ साथ देश की बुद्धि को भी यह निश्चय हो जाय कि यह रीति, जो महात्माजी चलाना चाहते हैं, वह ज्ञान-सम्मत भी है, केवल हृदयसम्मत ही नहीं है। ज्ञानियों की दृष्टि से सब प्रकार से उचित भी है, केवल भावुकों का भाव ही नहीं है। धर्म के अनुकूल है, धर्म का अंग है, धर्म है, धर्म के विरुद्ध नहीं है। धर्म तब तक सम्पन्न नहीं होता जब तक ज्ञान और भक्ति और कर्म समन्वय सम्वाद, न हो। मंदिर-प्रवेश और देवदर्शन के धर्मांग के विषय में भी ज्ञान और भक्ति और क्रिया का मेल हो जाना चाहिये।

अभी भी इस देश में बहुत सज्जन, सत्स्त्री, सत्पुरुष,

हैं जिनका आजन्म का संस्कार यह है कि हरिजनों मन्दिरों में प्रवेश करना उचित नहीं है, धर्म-विरुद्ध है, शास्त्र-विरुद्ध है। ये लोग ऐसे सच्चे हृदय से मानते हैं। ऐसे सज्जनों पर क्रोध करना, या उनसे बलात् मंदिर खुलवाने का यत्न करना, या उनके साथ किसी प्रकार की उद्धतता, उद्दंडता, परुषता करना, यह घोर अन्याय है, यह महात्माजी के साथ द्रोह करना है, क्योंकि यह सब भाव हिंसा के अवान्तर भाव हैं, और महात्माजी को सर्वथा हिंसा त्यजनीय वर्जनीय है। जो लोग महात्माजी के सच्चे भक्त और अनुयायी हैं, उनका कर्तव्य यह है कि प्रेम से, मृदुता से, और लगन से, समझा बुझाकर, उभय पक्ष के गुणदोष दिखाकर, दूसरे प्रकार के संस्कारवालों को अपने पक्ष में ले आवें। तभी उनका कार्य स्थिर होगा। अन्यथा केवल भावुक क्षोभ की आँधी से किया हुआ आज का कार्य, दूसरी आँधी से कल फिर बदल जा सकता है। अभी १२ दिसम्बर को महात्माजी ने पूना से एक सज्जन के प्रश्नों का उत्तर देते हुए लिखा है:—"जबर्दस्ती किसी भी मन्दिर को हरिजनों के लिये न खुलवाना चाहिये। लोकमत को हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के अनुकूल बनाने का उपाय ढूँढ़ निकालना चाहिये।"

तो अब प्रधान कर्तव्य यह है कि जनता के सामने यह सिद्ध किया जाय कि जिस रीति का महात्माजी उपदेश कर रहे हैं वह धर्म है, सनातन-वैदिक-आर्य-मानवधर्म है, धर्म के विरुद्ध नहीं है।

आदिस्मृति, आदिधर्मशास्त्र, मनुस्मृति का यह आदेश है, और इसमें किसी सनातनी हिन्दू को विवाद नहीं है, कि,

श्रुतिः स्मृतिःसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो भो धर्मस्तं निबोधत ॥

श्रुति अर्थात् सुना हुआ वेद, तथा मनु की आदिस्मृति तथा पीछे से देश-काल-अवस्था के भेदों के अनुकूल ऋषि महर्षियों ने उस आदिस्मृति में समय समय पर चढ़ाव बढ़ाव करके दूसरी स्मृतियाँ, अपनी याद के अनुसार, जो बनाईं, तथा शिष्ट साधु विद्वान् और रागद्वेषरहित तपस्वी सत्पुरुषों का सदाचार, और अंततः अपनी आत्मा को जो प्रिय हो, जिससे अपनी आत्मा को सन्तोष हो, जिसको अपना हृदय कहे कि यह अच्छा है— यह चार धर्म के मूल हैं।

इन चारों का क्या तारतम्य है इस पर आगे कहा जायगा।

धर्म की महिमा और धर्म शब्द के अर्थ पर दो शब्द पहिले कहना उचित जान पड़ता है। मनु का आदेश,

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

धर्म की रक्षा से समाज की रक्षा, धर्म के नाश से समाज का नाश।

आजकाल की पच्छिम की बोली में 'धर्म' शब्द के स्थान पर 'ला ऐंड आर्डर' शब्द कहते हैं। पर 'धर्म' शब्द का अर्थ बहुत अधिक विस्तृत है। इसमें इहलोक के सुखसाधक भी

और परलोक के सुखसाधक भी, मनुष्यों के परस्पर बर्त्ताव के भी, और मनुष्यों के, एक ओर देवताओं के, और दूसरी ओर पशुओं के, साथ बर्त्ताव के भी, नियम, क़ायदे क़ानून, सब शामिल हैं। 'ला ऐंड आर्डर' की दृष्टि केवल मनुष्यों के इह-लोक के बर्ताव के ऊपर रहती है, इसलिये उसमें अक्सर बहुत कच्चापन रहता है, बहुत भूल होती है, और सुख के स्थान में दुःख उत्पन्न होने लगता है। पर 'धर्म' का भी यही हाल देखा जाता है। कभी कभी तो और भी भयंकर दोष धर्म में आ जाते हैं। स्वयं कृष्ण भगवान् ने सात्विकी, राजसी, तामसी बुद्धि का वर्णन करते हुए कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च यं वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

मनुष्य की प्रकृति में सत्व रजस् तमस् तीनों सदा मिले रहते हैं, नेकी भी और बदी भी। जब रजस्, तमस्, रागद्वेष, स्वार्थ, लोभ, लालच, काम, क्रोध का अधिक प्रभाव होता है तब उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगता है। जब यह दारुण भाव मानव-संसार में अधिक बढ़ जाता है और सज्जनों को, दीन जनों को, बहुत अधिक पीड़ा पहुँचने लगती है, तब अन्तरात्मा प्रायः उसी समाज में अपने को किसी श्रेष्ठ शरीर में विशेष रूप से प्रकट करके, सच्चे

धर्म का फिर से संस्थापन व्यवस्थापन करता है यह घटना पुनः पुनः मानव-इतिहास में होती रही है और होती रहेगी। जैसा स्वयं कृष्ण भगवान् ने फर्माया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहं॥
'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

क्योंकि बिना सच्चे 'धर्म' के समाज की स्थिति ही नहीं हो सकती। यदि पुराण-काल को छोड़ भी दें, तो भी आधुनिक इतिहास से भी जान पड़ता है कि बुद्धदेव के जन्म के पहिले भारतवर्ष में मिथ्याधर्मों, असद्धर्मों, धर्माभासों का बहुत प्रचार हो गया था बुद्धदेव ने, जिनको सभी सनातनी नवम अवतार मानते हैं, सद्धर्म का जीर्णोद्धार किया, धर्म का संस्थापन किया, पंचशील की शिक्षा-दीक्षा से और अपने आचरण से, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अशुद्ध भोज्य पदार्थ मद्यमांसादि का वर्जन, और इंद्रियनिग्रह का प्रचार भारतवर्ष में किया, जो ही आज पुनः महात्माजी कर रहे हैं, जो ही आदिधर्म व्यवस्थापक आदिराज, महाराज, परमर्षि मनु भगवान् ने आदेश किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनुः॥

बुद्धदेव ने एक शिष्य के उत्तर में कहा था कि इस पुनर्व्यवस्थापित धर्म का प्रभाव प्रायः एक सहस्र वर्ष तक रहेगा। सो ही हुआ। राजस-तामस बुद्धि का देश में पुनर्वार सात्त्विक बुद्धि पर विजय हुआ, तंत्र-मंत्र वाममार्ग आदि के भयंकर दोष उत्पन्न

हुए, तरह तरह का अनाचार दुराचार फैलने लगा। फलतः पुनर्वार जीर्णोद्धार की आवश्यकता हुई, और पुनः-पुनः होती रही, और उसको शंकर, रामानुज, मध्व, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, नानक आदि अपनी-अपनी तपस्या, विद्या और परिस्थिति के अनुसार करते रहे। आज इनके अनुयायियों के भी, उसी राजस-तामस भेदभाव की बुद्धि के ज़ोर के हेतु से, छोटे-छोटे परस्पर कलहायमान पंथ बन गये हैं। और इस अभागे देश की फूट-बैर, परस्पर भेद, तिरस्कार तथा द्रोह की हवा के अनुसार वर्ण में अवांतर उपवर्ण में अवांतर उपोपवर्ण जाति में अवांतर उपजाति में उपोपजाति, वैसे ही पंथ में अवांतर उपपंथ में उपोपपंथ हो गये हैं, और—

भूमि हरित तृन सङ्कुल, सूझि परै नहिं पन्थ ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त भये सद्ग्रन्थ ॥

यदि यह दुर्दशा बढ़ती गई तो निश्चय है कि हिन्दू-समाज छिन्नभिन्न अस्तव्यस्त होकर नष्ट हो जायगा। नष्ट होने का क्या अर्थ है ? हिन्दू कहलानेवाली वर्त्तमान जनता का, या इसकी सन्तान का, तो लोप होने का नहीं, यह तो स्पष्ट ही है। लोप होगा हिन्दू कहलानेवाले धर्म के उस धर्ममूल और धर्मसार का, जिसको भगवान् मनु ने पंचलक्षणक सामासिक धर्म चारो वर्णों के लिये कहा है, और पुनः कुछ विस्तार से दशलक्षणक कहकर चारो आश्रमों के लिये आवश्यक कहा है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

यदि अवसर होता तो मैं यह दिखाने की कोशिश करता

कि अन्तरात्मा, सूत्रात्मा ने यहूदी जाति में मूसा के शरीर से, चीन जाति में कङ्फुत्से के शरीर से ग्रीक जाति में सुक्रात के, पुनर्वार यहूदी जाति में ईसा के, तथा अरब जाति में मुहम्मद के शरीर से, जब जब धर्मसंस्थापन, धर्मोद्धार किया तब तब इन्हीं पञ्चशील और दशलक्षण धर्मसार का ही उपदेश किया। बिना इनके मानवसमाज बर्बर अथवा जङ्गली पशुसमान, सभ्यताहीन, आचारहीन, ज्ञानहीन हो जाता है। हिन्दू-धर्म और हिन्दूसमाज के नाश का यही अर्थ हो सकता है। एक विशेष बात हिन्दूधर्म में और है—अर्थात् बुद्धिपूर्वक चार वर्णों और चार आश्रमों के द्वारा सामाजिक जीवन और वैयक्तिक जीवन का संग्रहण, व्यूहन। यह संग्रन्थन अन्य देशों और समाजों में भी मानव-प्रकृति के प्रभाव से है ही, पर बुद्धिपूर्वक, अभिसन्धि-पूर्वक, जानबूझकर, अधिकार-कर्त्तव्य की मर्यादा बाँधकर, नहीं बनाया गया है, इससे बहुत अस्तव्यस्त है। तथा भारतवर्ष में भी इसकी मर्यादाओं में भारी त्रुटियाँ आ गई हैं, जिससे अब यह धर्म के स्थान में अधर्ममय, और सुखावह के स्थान में महादुःखावह, हो गया है। इस सबके परिशोध और नवीनकरण की परम आवश्यकता है। धर्मसंस्थापन का अर्थ ही है वर्ण-आश्रम-धर्मव्यवस्थापन। हिन्दू के जो पुराने अर्थ से भरे नाम हैं, यथा सनातनधर्म, वैदिकधर्म, मानवधर्म, आर्यधर्म, उनके साथ यह भी विशेषद्योतक मुख्य नाम है अर्थात् वर्णा-श्रमधर्म।

अभी महात्माजी को इस ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला है। जिस दिन देंगे उस दिन लोकहित भाव के तीव्रसंवेग

से शुद्ध, पवित्र, निर्मल हृदय पर उसके तत्व का तत्क्षण प्रकाश हो जायगा, और वे इसके द्वारा समस्त मानवजाति के कल्याण साधने में प्रवृत्त हो जायँगे, और अपने तपोबल से साध सकेंगे। क्योंकि बिना तपस्या के ज्ञान सर्वथा वंध्य है, व्यर्थ है। हम लोगों की क्षुद्र बुद्धि जहां तक समझ सकती है, यही जान पड़ता है, कि जैसे अनुभवी वैद्य किसी भयंकर शरीरव्यापी रोग के प्रत्येक चिह्न और फलरूपी विकार की चिकित्सा नहीं उठाता, बल्कि उसके निदान को, मूलकारण को, पकड़कर, उसी के शमन में लग जाता है, वैसे ही महात्माजी ने हिन्दू-समाज के महारोगरूपी भेदभाव के उग्रतर स्थान को पकड़ा है, अर्थात् छूत-अछूत विवेक को, और देश की सारी शक्ति को इसी के शमन-दमन में लगा दिया है। यदि यह विकार दूर हुआ तो अन्य विकार आपसे आप अथवा सहज में थोड़े प्रयास से, दूर हो जायँगे। तो अब यह विचारने की आवश्यकता है कि जो हमारे समाज के बहुतेरे सज्जन बन्धुबांधव यह संस्कार आजन्म धारण कर रहे हैं, कि कुछ जाति के मानव, स्त्री पुरुष बालक, जन्म ही से दूसरों के लिये अस्पृश्य हैं, उनके शरीर वस्त्र, या उनकी छुई हुई वस्तु को छू लेने से ये दूसरे अशुद्ध हो जाते हैं, और बिना स्नान दान आदि के फिर से शुद्ध नहीं होते—यह धारणा सद्धर्म है, या मिथ्या-धर्म और अधर्म है।

पहिले कहा कि सद्धर्म की कसौटी चार हैं—(१) श्रुति (२) स्मृति, (३) सदाचार, और (४) अपना अंतःकरण, अपना हृदय, अपना आत्मा। मुसलमान धर्म में इनके नाम हैं—(१) कुरान (२) हदीस (३) इज्मा (४) कयास।

ईसाई धर्म में—(१) बाइबल (२) ट्रेडिशन—कैनोनिकल रेग्युलेशन—कानशेन्स। पच्छिमी कानून में—(१) एक्ट्स आफ लेजिस्लेशन या स्टैट्यूट—कस्टम—प्रेसीडेन्ट—एकिटी या एकिट, रिवाज, नज़ीर, इन्साफ़।

इन चार कसौटियों से इस प्रश्न को जाँचना चाहिये। यह काम विशेषज्ञ लोग आर्यहृदय, आर्यबुद्धि के, रागद्वेषरहित, तपोविद्यायुक्त, विद्वान्, पंडितजन ठीक ठीक कर सकते हैं।

मेरे लिये बड़ी कठिनता यह है, कि तपस्या का नितांत अभाव, और ज्ञान भी अत्यंत पल्लवग्राही। सारी उमर सांसारिक व्यावहारिक झंझटों में बीती। किसी पूर्वजन्म के संस्कार से पोथी पढ़ने का शौक तो रहा पर समय यथेष्ट नहीं मिला, और पोथियाँ असंख्य। जो कभी कथंचित् कदाचित् कुछ फुर्सत मिली तो पचीस तीस स्मृतियों का, सदाचारद्योतक मुख्य मुख्य इतिहास-पुराणों का, जल्दी जल्दी, अपने मन से, बिना गुरुमुख से सुने समझे, पाठ कर लिया। वैदिक-साहित्य कुछ भी न देख सका। यदि उपनिषद् वेद का अंग, वेद का अन्त, वेद की पराकाष्ठा परागति, माने जायँ तो उनका भी केवल वैसा ही पाठ मात्र कर पाया।

कुछ सज्जन कहा करते हैं कि 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते', धर्म में बुद्धि को स्थान ही नहीं है, जो पोथी में लिखा है उसी के अक्षर के अनुसार कार्य करना चाहिये, क्योंकि यदि अन्तर्ध्वनि, अंतःकरण, आत्मप्रिय के अनुसार 'धर्म' हो, तो प्रत्येक मनुष्य का धर्म अलग हो जायगा, 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना'। इस शंका की उत्तररूप प्रतिशंका यों होती है, कि शास्त्र कहलानेवाली पोथियाँ

भी सैकड़ों हैं, इसी कारण से पंथ, उपपंथ, उपोपपंथ, सैकड़ों हो गये हैं, जिनके आचार-विचार में बहुत भेद है, किस पोथी को माने, किसको न माने। शंका प्रतिशंका दोनों का समाधान महाभारत में विदुरजी के मुख से स्वयं व्यासजी ने कर दी है,

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नः
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

जब ऐसा मौका आवे कि दोनों ओर तर्क प्रतितर्क की परम्परा बढ़ती ही जाय, कहीं भी प्रतिष्ठित समाप्त न हो, तथा श्रुतियों का भी द्वैध देख पड़े, भिन्न प्रकार के वेद वाक्य परस्पर विरुद्ध मिलें, और विविध स्मृतिकार ऋषियों के भी वचनों में एकवाक्यता न हो, और धर्म का, किंकर्तव्यता का, तत्त्व मानो, गहरी गुफा में हृदय गुफा में, छिपा रह जाय, खोजने से न मिले, तब महाजन, जनसमुदाय, भूयसीय, बहुमत, जिस पथ पर चले उसी पथ पर अपने को भी चलना उचित है।

इस स्थान पर एक अद्भुत बात की ओर आप सब सज्जनों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। अखबारों से मालूम होता है कि गुरुवयूर के मंदिर में हरिजनों का प्रवेश एकादशी के दिन चिरकाल से होता आया है। जब ऐसा है, तब तो उस मन्दिर के सम्बन्ध में शास्त्रीय शंका कोई बची ही नहीं। प्रवेश उचित है यह सिद्ध हो गया। रहा यह कि पखवारे में एक दिन हो कि पन्द्रहो दिन हो, यह बात शास्त्रीय नहीं किन्तु सुविधा और

रिवाज और परस्पर भाव-शुद्धि आदि की बात है। प्रायः किसी श्रुति-स्मृति या अन्य प्राचीन शास्त्र के ग्रन्थ में यह विधि या नियम लिखा हो ही नहीं सकता कि गुरुवयूर का मन्दिर जब भविष्य काल में बने तब उसमें केवल एकादशी के दिन हरिजनों का प्रवेश हो। अस्तु।

कोई विद्वान् कहते हैं कि महाभारत के उक्त श्लोक में महाजन शब्द का अर्थ बहुमत नहीं है, प्रत्युत महापुरुष है। यह बात नहीं बनती। दूसरे स्थान में प्राचीन पुराण इतिहासों में महापुरुष के अर्थ में महाजन शब्द का प्रयोग मेरी जान में नहीं मिलता है। पर यहाँ मुझसे भूल अवश्य हो सकती है। तो यह विचारना चाहिये कि इसी प्रजागर-पर्व के विदुरनीत्यध्याय में और दो स्थानों में यह शब्द आया है।

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।

यहाँ महाजन का अर्थ जनसमूह के सिवाय और कुछ हो नहीं सकता। तथा यह भी विचारने की बात है कि श्लोक के पहिले दूसरे पद्यों में कह चुके कि वेदद्रष्टा मन्त्रकर्त्ता ऋषियों में तथा स्मृतिकार ऋषियों में परस्पर विभिन्नता है। ऋषियों से बढ़कर और कौन महापुरुष हो सकता है। दूसरे स्थान में तो और भी स्पष्ट है,

देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभुत्सते यः स परावरज्ञः।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति॥

विविध देशों समाजों के विचित्र आचारों धर्मों को जो जानता है, वह जहाँ कहीं भी पहुँच जाय 'महाजन' पर अधिपति हो जाता है। इस कारण बहुमत को समझाना समझना,

बुद्धि का विनिमय करना और उसके निर्णय के अनुकूल चलना उचित ही है।

ऐसे अपूर्व अवसरों पर सिवा परस्पर समझने-समझाने-वालों की बुद्धियों से काम लेने के, केवल शास्त्र की पोथी के अक्षरों से काम नहीं चलता। जिस किसी पुस्तक को आप शास्त्र मानें वह भी तो किसी पुरुष की बुद्धि से ही उत्पन्न हुआ है। जैसे शरीर से लपेटे आत्मा को जीव कहते हैं वैसे ही शब्दों से उपहित किसीकी बुद्धि ही को शास्त्र कहते हैं।

सनातन धर्मवालों का जो सबसे पवित्र वेदमन्त्र है, गायत्री, सावित्री, वह सद्‌बुद्धि के लिये, धियः के लिये; परमात्मा जगत्स-विता से प्रार्थना करता है, शास्त्रों के लिये नहीं। सद्‌बुद्धि ही ही तो सच्छास्त्रों की माता है। गायत्रीरूपिणी बुद्धि वेदों की माता है। अन्य वैदिक प्रार्थनाओं में बुद्धि ही की याचना की है, शास्त्र की नहीं।

स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।

शास्त्रेण संयुनक्त नहीं।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

शिवशास्त्रमस्तु नहीं। हनुमान्‌जी 'बुद्धिमत्तां वरिष्ठ' कहाते हैं, 'शास्त्रमतां' नहीं। भगवान् कृष्ण ने निश्चयेन कहा है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते।

पर यह बात ध्यान देने की है। शास्त्र शब्द गीता में केवल पाँच बेर आया है, एक बेर १५–२० में, तीन बेर १६२३, २४ में, और एक बेर १७–१ में। और १५–२० में स्वयं कृष्ण ने शास्त्र का अर्थ कर दिया है।

इति गुह्यतमं शास्त्रं ।

सब शास्त्रों में गुह्यतम श्रेष्ठ शास्त्र, अर्थात् स्वयम् गीता में कहा हुआ अध्यात्मशास्त्र। कृष्ण ने अर्जुन को कार्याऽकार्य की घोर शंका में और विषाद में बूड़े हुए देखकर, वेद के वाक्यों का उद्धारण नहीं किया, स्मृतियों के वाक्यों का हवाला नहीं दिया, प्रत्युत वेद के कर्मकांडी वाक्यों पर अतिश्रद्धा को अनुचित बताया, और

बुद्धौशरणमन्विच्छ.........बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

ऐसा कहा, अर्थात् बुद्धि में शरण लो, बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। पहिले कहे श्लोकों का भी आशय यही है कि देवता जिसका भला चाहते हैं उसको सद्बुद्धि देते हैं।

तार्किक लोगों का भी कहना है कि—

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्यं।

बुद्धि की गति आगे नहीं है—यह निर्णय भी बुद्धि ही करती है।

लौकिक कहावत भी है।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलं।

जिसके पास बुद्धि है उसीके पास सब बल है, बुद्धि नहीं तो बल कहाँ। शास्त्रं यस्य नहीं कहा। आदि धर्मशास्त्रकार भगवान् मनु ने, शास्त्र बनाते हुए भी कहा—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिता॥
आर्षं धर्मोपदेशं तु वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

धर्म की शुद्धि जो चाहते हैं उनको प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान-प्रमाण, और विविध शास्त्रप्रमाण तीनों से काम लेना चाहिये। अध्यात्म-विद्या के अनुकूल तर्क करके, इस कर्म से सुख होगा कि दुःख, इसको खूब विचार करके, जो धर्म का अनुसंधान, खोज, करता है वही सच्चे धर्म को जानता है दूसरा नहीं।

कुल्लूक भट्ट ने भी टीका में कहा है।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिश्चयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥

केवल एक शास्त्र की पोथी के अक्षर को पकड़ करके, बिना युक्ति देखे, जो काम करेगा वह अधर्म में पड़ जायगा।

व्यासजी ने भी महाभारत में भीष्म, युधिष्ठिर, तुलाधार आदि के मुख से कहा है।

अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेन् न लोकं विरसं चरेत् ॥
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम्।
तस्मात्कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ॥
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्त्तितव्यं कृतात्मना।
उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्याध्यात्मचिंतामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत॥

(शांतिपर्व, अ० २६८, २६६, १०१, ३६०)

लौकिक कहावत भी है,

यस्या नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

अर्थात् बिना कारण के कोई छोटा से छोटा, सूक्ष्म से

सूक्ष्म, भी धर्म नहीं है, इसलिये प्रत्येक धर्म के हेतु को जानना आवश्यक है। अन्यथा लोकयात्रा नीरस, कुरस हो जाती है। केवल शास्त्र के पाठ से धर्म का ज्ञान नहीं होता। धर्म और अधर्म के निर्णय में बुद्धि से काम लेना चाहिये। कपिलादि महर्षियों ने, अपनी बुद्धि से, आध्यात्मिक चिन्तन करके, शास्त्रों को बनाया है। जिसको प्रज्ञा नहीं, बुद्धि नहीं, उसके लिये शास्त्र व्यर्थ है, जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिये दर्पण। देखिये—पहिले तो यही निश्चय करना है कि यह शास्त्र है या शास्त्र नहीं है—यह बुद्धि ही का काम है। फिर यदि किसी विशेष ग्रन्थ को मान भी लिया जाय कि यह शास्त्र है, तो उसके इस वाक्य का यह अर्थ है या दूसरा, यह भी बुद्धिहीन का काम है। तथा यदि यह मान लिया जाय कि हमारी बुद्धि काम नहीं करती, दूसरे की बुद्धि पर भरोसा करना चाहिये, तो यह निर्णय करना कि यह आप्त है, मानने योग्य है, या यह दूसरे सज्जन मान्य हैं—यह भी जिसको मानना है उसकी बुद्धि ही का काम है।

निचोड़ यह कि जो लोग शास्त्र को एक ओर और पूछने वाले संशय करनेवाले की बुद्धि को दूसरी ओर, उससे अलग कर देना चाहते हैं, और यह कहते हैं कि जिसको हम शास्त्र कह दें उसीको तुम शास्त्र मान लो, जो अर्थ हम कर दें उसी को तुम ठीक अर्थ मान लो, तुम अपनी बुद्धि को दखल मत दो—ऐसे लोग या तो आप भूल में पड़े हैं, या दूसरे को भूल में डालना चाहते हैं। कभी किसी की बुद्धि को मिटा देने का जतन नहीं करना चाहिये। प्रत्युत सच्चे आचार्यों का तो मुख्य लक्षण यही है कि दूसरों की बुद्धि को जगाते रहें, उनसे शङ्का

और प्रश्न कराते रहें, उनको सब धर्मों के हेतु बता बताकर उन का सन्तोष करते रहें। जो लोग दूसरों को कहते हैं कि हेतु मत पूछो, अपनी बुद्धि को त्याग दो, वे धर्म के द्रोही हैं, मित्र नहीं।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चितः॥ (म०भा०)
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ (गीता)
यल्लोकहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति न श्रुतं॥ (म० भा०)

जो जनता को धारण करे, उनको एक दूसरे से बाँधे रहे, उनको बिखरने न दे, जो लोक का संग्रह करे, जिससे लोक का अत्यन्त हित हो, वही सत्य धर्म है।

इस दृष्टि से देखने से यह सिद्ध होता है कि समय समय पर धर्म को, आचार को, बुद्धिपूर्वक बदल देना भी आवश्यक होता है। आगे चलकर यह दिखाने का यत्न किया जायगा कि, किस प्रकार से, जो इधर कई शताब्दियों से इस देश में छूत अछूत का दुराव बराव, स्पृश्य-अस्पृश्य का विवेक किया जाता रहा है, वह शास्त्रसंमत भी नहीं है। पर उसके पहले यह कह देना उचित होगा कि, यदि किसी समय में यह शास्त्रसंमत रहा भी हो, तो अब लोक का धारक नहीं विच्छेदक, संग्राहक नहीं विग्राहक, हितकर नहीं अहितकर, काल अवस्था-पात्र आदि के भेद से हो गया है, इसलिये, शास्त्र के सिद्धान्तों के ही अनुसार अब इसको बदल देना आवश्यक हो गया है।

युगभेद से धर्मभेद होता है, यह स्वयं मनुजी आज्ञा देते हैं।

अन्ये कृतयुगे धर्माः त्रेतायां द्वापरेऽपरे।

अन्ये कलियुगे नृणां, युगह्रासानुरूपतः ॥

व्यासजी ने भी ऐसा ही कहा है—

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रतिनरं भवेत् ।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ॥(शां०अ०३१४)
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चाऽपरः ।
वेदवादाश्चानुयु हसन्तीति च नः श्रुतम् ॥
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्त्तते ।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः ॥
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामेव लक्षये ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ॥
आदानमनृतं हिंसा, धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः । शां०अ०

निष्कर्ष इन श्लोकों का यह है कि, देश-काल-निमित्त अवस्था-पात्र-अधिकारी आदि के भेद से धर्म में भेद होता रहता है, जो आज धर्म है वह कल को अधर्म हो जाता है, जो अधर्म है वह धर्म हो जाता है ।

प्रसिद्ध है कि अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, श्राद्ध में मांसपिंड आदि पहिले धर्म थे, कलियुग में अधर्म हो गये । तथापि संन्यास को फिर से धर्म मान लिया गया । सब विद्वानों की बुद्धि से ही यह सब परिवर्तन किया गया ।

मनु का साक्षात् आदेश है कि, जब ऐसी अवस्था उपस्थित हो, जिसके लिये आम्नाय में, वेदादि में वचन न मिले, तो शिष्ट

ज्ञानी, तपस्वी, लोग जो निर्णय कर दें वही उस अवस्था के लिये धर्म होगा ।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः समुपबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

रेल पर चढ़ना या न चढ़ना, रेल पर पानी पीना या न पीना, तार से खबर भेजना और लेना या नहीं, जेब में घड़ी रखना या नहीं—इत्यादि बातों के लिये आम्नाय में वचन नहीं मिलने का । अपनी बुद्धि से हो निर्णय करना पड़ेगा ।

मुझे याद है, पचास पचपन वर्ष पहिले, मेरे पूज्य पिता और पितृव्य जब रेल की यात्रा करके आते थे, तो तीन दिन, फिर दो दिन, फिर एक दिन, घर से अलग, बागीचे में, रक्खे जाते थे, उनके सब कपड़े धुलवाये जाते थे, वे भी कई बेर नहलाये जाते थे, कुछ प्रायश्चित्तरूप दान कराया जाता था, तब घर में आने पाते थे । मेरी परम पूज्य पितामही उस समय वर्त्तमान थीं । उनको उस समय यही शास्त्रोक्त धर्म बताया गया था । अब तो बतानेवाले सज्जनों के घर भी यह धर्म नहीं वर्त्ता जाता ।

निष्कर्ष यह कि व्यवहार को सुकर बनाने के लिये शास्त्र बना और बनता है, शास्त्र के लिये व्यवहार नहीं बना । मान्य पुरुषों की बुद्धि शास्त्रों को बनाती है, शास्त्र तो बुद्धि की सृष्टि नहीं करते । इसीलिये जो बुद्धि शास्त्र को बनाती है वही उनको, उचित हेतु देखकर, बदल भी सकती है । युग युग में अवस्था

के बदलने से लोकमत बदलता है, वह लोकमत किसी विशिष्ट नेता की बुद्धि के द्वारा नवीन धर्म, नवीन आचार, नवीन शास्त्र, नये कानून में परिणत हो जाता है।

शास्ति यत्साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम्।
एतच्छास्त्रस्य शास्त्रत्वं, नान्यदस्त्य लक्षणम्॥
वासना वासुदेवस्य वासितं सकलं जगत्।
यस्माद्वसति लोकेषु वासुदेवस्ततः स्मृतः॥

चारो पुरुषार्थ, धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष में से किसी के साधन का सच्चा निर्मल उपाय जो शासन करे, बतावे, वही शास्त्र है। लोक के हृदय में बसनेवाले वासुदेव की वासना से वासित लोक की इच्छा, और उसकी पूर्त्तिद्वारा सुख के साधन के उपाय, युग, युग में बदलते रहते हैं। इसलिये शास्त्र का भी समय समय पर नया संस्करण आवश्यक होता है। ठीक वैसे ही जैसे शासन-पद्धति में लेजिस्लेटिव कौंसिल में बैठकर कुछ लोग कानून में घटाव-बढ़ाव करते रहते हैं। दुःख यह है कि ये लोग जैसा चाहिये वैसे निस्वार्थी, अनुभवी, लोकहितैषी नहीं होते, इससे कानून बहुधा दुःखदायक बन जाते हैं, लोकोपकारक नहीं। ऐसे ही, धर्म में, छिपे-छिपे परिवर्त्तन होता ही रहता है, पर जिस प्रकार से और जैसे लोगों को, खुले रूप से, करना चाहिये, वैसे नहीं होता, इससे लोकोपकारक नहीं होता।

इस बात के उदाहरण के लिये, कि ऋषियों ने व्यवहार के लिये शास्त्र बनाये, शास्त्र के लिये व्यवहार नहीं, एक दो वाक्य स्मृतियों के देखिये। कहा जाता है कि चांडाल का छू जाने से सचैल स्नान करना उचित होता है। मनुस्मृति की प्रचलित

मुद्रित पुस्तकों में लिखा है कि चांडाल का छुआ और दिया हुआ भोज्य पदार्थ सवर्ण के लिये भोजन करना धर्म है। और क्या, कुत्ते का जूठा खा लेना भी धर्म है। इसको कोई विश्वास नहीं करेगा। पर सुनिये,

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः, सकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः, श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥
श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।
कव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चांडालाद्यैश्च दस्युभिः॥

कारीगर का हाथ, पक्षी की चोंच, बछवे का मुँह, मृगया में शिकारी कुत्ते का दांत—ये सदा शुद्ध हैं। कुत्तों का मारा हुआ मांस, या पलुए चीता आदि का, या चाण्डाल व्याधों द्वारा—सब शुचि और ग्राह्य है। जो सज्जन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि मांस का ग्रहण करते हैं, उनके लिये यह सब मनु के वचन से धर्म ही है। कारीगर का हाथ यदि शुचि न माना जाय, चाहे वे कितनी भी तम्बाकू आदि पीते हों, नाक पोंछकर, सिर खुजलाकर, हाथ न धोते हों तो देवप्रतिमा, देवपूजा के लिये पूजा की माला, तरकारी बेचनेवाली स्त्रियों के हाथ की तरकारियाँ जिनको वे उसी पानी से छिड़कती रहती हैं जिससे साथ के बच्चे की आबदस्त, देती रहती हैं, इन सबका व्यवहार ही असम्भव हो जाय।

मनु की आज्ञा है,

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

धर्म के विरुद्ध जो अर्थ और काम हों उनका त्याग करना,

और ऐसे धर्म को भी छोड़ देना जो सुख का विरोधी हो और लोकमत, 'रेफरेंडम', जिसके विरुद्ध हो गया हो।

प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करने से जान पड़ता है कि जिस दृष्टि से भी जाँचिये, हरिजनों का देवदर्शन के लिये मंदिर में प्रवेश करना किसी प्रकार से धर्मविरुद्ध नहीं है, यदि वे शुचिता के नियमों का उतना ही पालन करें जितना और लोग करते हैं। बल्कि उनको रोकना धर्मविरुद्ध है। वे भी ब्रह्मदेव की संतान हैं। अग्रजन्मा के अनुजन्मा हैं। आनृशंस्य की, सहानुभूति की, दृष्टि से भी उनको साथ रखना ही उचित है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है,

न धर्मेऽस्याधिकारोऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनं।
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मंत्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति, प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥

अद्विज को धर्म में अधिकार नहीं है, तो प्रतिषेधन भी नहीं है। यदि उनमें से कोई, सत्पुरुषा के धर्म का अनुकरण करे, तो, वेदाध्ययन को छोड़, और सब धर्म कर्म करने से वे दोषी नहीं होते, प्रत्युत प्रशंसा के पात्र बनते हैं।

कुछ सज्जनों को यह शंका होती है कि मंदिर में हरिजनों के प्रवेश से देवमूर्त्ति दूषित हो जायगी, उसकी प्राणप्रतिष्ठा मिट जायगी, वह निष्प्राण हो जायगी। ऐसे सज्जनों से यह कहना चाहिये कि, हे भाई! आप अपने देवता पर और अपने पर ऐसी अश्रद्धा, अविश्वास मत करो। देवता ऐसे निर्बल दुर्बल नहीं हैं।

यथा रथ्यापायः शुचि भवति गंगौघमिलितं।

गंगा में तो पनालों का पानी भी पड़कर आप पवित्र हो

जाता है, गंगा को अपवित्र नहीं कर सकता। गंगा के जल में ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि विषकीटों को दो तीन घंटे में नाश कर देती है, यह पश्चिमी वैज्ञानिकों ने निश्चय किया है। भक्त-जन के दर्शन से देव क्षीण हो जायँगे, यह तो देव की निन्दा करना है। देव तो भक्ति को देखते हैं, वर्ण और जाति को नहीं। सारा संसार यह प्रत्यक्ष देखता है कि वैदिक देवता, अग्नि, वायु, रवि, वरुण, पृथ्वी, मलतम पदार्थों को, खाद को मनुष्य का खाद्य अन्न बना देते हैं, अपवित्र को पवित्र कर देते हैं। हुताश का नाम ही पावक है। यदि मूर्त्तियों की सच्ची प्राणप्रतिष्ठा हुई है तो उनमें भी ऐसे गुण होने चाहियें।

हाँ, शारीर-शुचिता को अवश्य देखना चाहिये। और सवर्ण अवर्ण सबके लिये एक-सा देखना चाहिये प्रत्यक्ष मल-युक्त न हो, संचारी रोग का रोगी न हो, तभी मंदिर में आवै।

उक्त चार कसौटियों में से अंत:करण की तो ऐसी व्यवस्था देख पड़ती है। और तीन के विषय में वेद के जाननेवालों से मैंने सुना है कि चांडाल शब्द वेद में नहीं मिलता। उसके समीप का शब्द निषाद मिलता है। सो निषाद के लिये यज्ञ आदि की अनुमति वेद ने दी है। 'यज्ञियासः पंचजना मम होत्रं जुषध्वं।' (ऋ०)। 'चत्वारो वर्णाः, निषादः पंचमः' (निरुक्त)। पुराणों में प्रथम निषाद को राजा पृथु का सगा बड़ा भाई कहा है। अर्थात् आर्यों से पहिले से जो लोग भारत में बसते थे, 'निषण्ण' थे, वे 'निषाद' कहाये, (ऐबोरिजिनीज़।)

स्मृतियों में, अत्रि स्मृति में स्पष्ट लिख दिया है—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥

किन्हीं प्रतियों में ऐसा भी पाठ है—

उत्सवे तीर्थयात्रायां देवतायतनेषु च ।
यज्ञेषु च विवाहेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥

अर्थ एक ही है। देवमंदिर में, तीर्थ-यात्रा में, यज्ञों में, विवाहों में, छूआछूत का विचार नहीं करना। और व्यवहार में नहीं हो रहा है। मुझसे ब्राह्मण परिडतों ने कहा है कि काशी में श्री विश्वनाथ के मन्दिर में तथा श्री दुर्गा के मन्दिर में बाह्य कहलानेवाले भी भक्त, बराबर, स्त्री भी पुरुष भी, नहा-धोकर, स्वच्छ होकर जाते ही हैं, और दर्शन करते हैं। न वे किसी से आह्वानपूर्वक कहते हैं कि हम अमुक बाह्य जाति के हैं, न कोई उनसे पूछता है कि तुम किस जाति के हो। बस, यही ठीक मनुष्यता का; भलमंसी का; सद्बुद्धि का; देवभक्ति का सच्चा व्यवहार है।

सदाचार की कथा देखिये। रामजी से बढ़कर कौन सदाचारी हो सकता है। मर्यादापुरुष, प्रमाणं सर्व भूतानां, प्रतिमानं महीभुजां—यह सब उनके विशेषण हैं। रामजी के पिता दशरथ जी के परम सखा निषादराज थे, उन्होंने रामजी और सीताजी और लक्ष्मणजी को अपने हाथों नाव खेकर गंगापार उतारा। रामजी के पैर बड़े सुन्दर थे, उनका पैर छूने की बड़ी उत्कण्ठा निषादराज को हुई। पर सोचा कि अपने पिता के वृद्ध मित्र को अपना पैर छूने न दें, इसलिये बहाना किया,

क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ, दारुदृशदोः किमंतरम् ।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥

'नाथ ! ऐसा लोग चारो ओर कहते हैं कि आपके पैर की धूल छू जाने से पत्थर की शिला अहल्या हो गई। जब पत्थर की यह दशा हुई तो मेरी काठ की नाव का भी आपके पैर की धूल छू जाने से स्त्री बन जाना क्या अचरज है। और ऐसा हुआ तो मेरी तो सब जीविका मारी जायगी। इससे मैं आपके पैरों को धो-पोंछ के साफ किये बिना आपको नाव पर चढ़ने न दूँगा।

रामजी के आर्यहृदय का क्या कहना है, पिता के दूसरे मित्र, जटायु गृध्र, की अंत्यक्रिया अपने हाथ से की। जंगल के वानर भालुओं को अपने गले लगाया। उनके आश्लेषण परिष्वजन की चर्चा वाल्मीकिजी ने कई बार की है। भक्त शबरी का जूठा खाया। क्या इस सबसे बढ़कर सदाचार का निदर्शन चाहिये ? देवता तो भक्ति के भूखे हैं। जाति नहीं पूछते। महात्माजी भी इतना ही कहते हैं कि बाह्य-शुचिता देखो, जो शर्त सवर्ण के लिये वही अवर्ण के लिये रक्खो। और इस बात को उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रश्न से और सह-भोजन, सहविवाह का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह दूसरा विषय है। जिन समाजों में, यथा ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, सिख, जैन, पारसी आदि में, वर्णभेद नहीं है और हिन्दुओं का-सा छुआछूत का विचार नहीं है, उनमें भी ख़ाहमख़ाह जबर्दस्ती सहभोजन सहविवाह तो नहीं है।

कोई सज्जन कह देते हैं कि महात्माजी को धर्म में दखल नहीं देना चाहिये, राजनीति में जो चाहें करें। पर शासकवर्ग कहता है कि राजनीति में दखल मत दो, धर्म में जो चाहे करो। और भीष्म पितामह शांतिपर्व में कहते हैं।

सर्वे धर्मा राजधर्मे प्रविष्टाः सर्वा विद्या राजधर्मेषु दृष्टाः ।
सर्वे योगा राजधर्मेषु युक्ताः धर्मो नान्यो राजधर्माद्विशिष्टः ॥

धर्मशास्त्र के आदि ग्रन्थ मनुस्मृति का प्रायः आधा भाग राजधर्म कहाता है, बाकी में अन्य सब धर्म कहे हैं। कोई सज्जन कहते हैं कि, जब महात्माजी स्वयं कहते हैं कि मुझको शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, तब क्यों धर्मशास्त्र के विषय में दखल देते हैं। हे भाई ! हृदय-शुद्धि से निर्मल बुद्धि जिसको परमात्मा ने दे दिया, उसको विशेष विशेष शास्त्र नामक पोथियों की आवश्यकता नहीं रहती। 'मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा'। वह तो शास्त्रप्रवर्त्तक होता है, सब शास्त्रों के सार उसकी बुद्धि में यों ही उपस्थित हैं।

वेद की आज्ञा है,

संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, संवोमनांसि जानताम्।

आपस में संगति करो, एक साथ मिल के चलो, संवाद करो, विवाद मत करो, संज्ञान साधो, विरुद्ध ज्ञान मत रक्खो, मत फैलाओ। सर्वसंवादिनी स्थविरबुद्धिः। बूढ़ों का मुख्य काम यह है कि नई पुश्त के झगड़ों को मिटाकर उनमें सदा मेल कराते रहें। इस प्रश्न का भी निपटारा ऐसे ही शांत मन से, परस्पर प्रीति से, लोकोपकार बुद्धि से, जमाने को पहिचान करके कर लेना चाहिये। महात्माजी के प्रेममय अनशनरूपी सत्याग्रह का लक्ष्य यही है कि ऐसा समझौता निपटारा हो जाय और आपस का भेदभाव घटे।

किसी किसी प्रकार से स्यात् यह दिखाया जा सके कि एक अकेले चाण्डाल जाति के लिये मनुजी ने जन्मना अस्पृश्यता

कही है। पर जो लक्षण उन्होंने चाण्डाल का लिखा है उसका निश्चित रूप से इस काल में मिलना असम्भव है। इसलिये वह अंश स्मृति का अब बेकार हो गया है। दूसरे जो अर्थ किये जाते हैं वे ठीक मन में बैठते नहीं। अब तो सबको अपनाने की आवश्यकता है, ऐसी शर्तों से जो सब पर लागू हों। किसी को भी, बिना उन शर्तों के तोड़े, दूर करना, तिरस्कार करना, उसके मन में क्रोध जगाना—यह बड़ी भूल है। अपना शरीर, सभी का, उत्तमतम वर्ण का भी, भीतर मलमय है, जन्मना महा अस्पृश्य है।

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भ्यान्निस्यंदान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पंडिताह्यशुचिं विदुः ॥

तो केवल बाह्य शुचिता की ही जाँच होनी चाहिये। और यह भी ध्यान करने की बात है कि प्रायः सभी सवर्णों के यहाँ, जन्म, विवाह, और मरण के संस्कारों में, अवर्णों के द्वारा, विशेष विशेष कृत्य कराने की प्रथा चली आती है। फिर देव-मंदिर से देवभक्त को निकालना, किसी प्रकार से उचित नहीं जान पड़ता है।

सब विचार का निष्कर्ष यह है कि, यदि आप मेरी प्रार्थना को मानें तो, सब देव-मंदिरों पर ये दो श्लोक मोटे अक्षरों में लिखकर लगवा दें, और उनके अनुसार सब देवदर्शनाभिलाषियों के साथ व्यवहार किये जाने का यत्न करें।

स्पृश्यास्पृश्यविवेके तु जातिनाम न कारणम् ।
किंत्ववस्था मनुष्याणां समला निर्मलाऽथवा ॥

भक्त्या पूतं मनो येषां देहः स्नानादिभिस्तथा ।
ते सर्वे स्वागता अत्र देवदर्शनकांक्षिणः ॥
ॐ सहास्मानवतु, सहास्मान्भुनक्तु, तेजस्विनो अधीतमस्तु,
मा विद्विषामहै· ॐ शांतिरस्तु, तुष्टिरस्तु, पुष्टिरस्तु, सौमनस्यमस्तु ।
ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

डाक्टर भगवानदास जी

आधुनिक युग में अछूत और धर्म

(लेखक—पं० देवनारायण द्विवेदी)

समय के फेर से आज जब कि देश में स्पृश्यास्पृश्य का प्रश्न जोरों से उठा हुआ है, कितने ही लोगों को धर्म की नौका डूबती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। ऐसे लोग न तो धर्म का वास्तविक अर्थ ही समझ पाये हैं और न उसके गहनातिगहन अर्थ की खोज में कभी दत्तचित्त होने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि उन्हें हरिजनों के मन्दिरों में प्रवेश करने से ही धर्म का नाश होना प्रतीत हो रहा है। यदि रूढ़ियों को छोड़कर विचार-दृष्टि से काम लिया जाय तो पता चलेगा कि हमारा सनातन-धर्म कितना व्यापक और उदार है तथा अपनी किन-किन विशेषताओं के कारण वह इतने धार्मिक आघातों के होने पर भी आज तक टिका हुआ है और धर्म का जीवन किस बात पर अवलम्बित रहा करता है। क्या कभी इस बात पर भी विचार किया कि वैदिक काल से लेकर अब तक भारतवर्ष में कितने धर्म प्रचलित हुए और वे क्यों काल-कवलित होकर आज अपना नाम भी

शेष नहीं रख सके ? कभी यह भी सोचने का अवकाश मिला कि उन परस्पर-विरोधी धर्मों के अनुयायी क्या हो गये ?

गम्भीरतापूर्वक इतिहास का मंथन करने एवं विवेक-बुद्धि से काम लेने पर हम अनुसन्धान की इस तह पर पहुँचते हैं कि हमारा सनातन-धर्म पहले इतना उदार और अकाट्य सिद्धान्तों पर स्थित था कि उसमें अगणित धर्म और असंख्य जातियों के लोग खप गये। ऐसे खपे कि आज उनमें से अधिकांश धर्मों के नामों का पता लगाना कष्ट-साध्य ही नहीं असाध्य है। यही हमारे धर्म की प्रधान विशेषता थी जिससे वह विरोधियों के अनेकानेक आघात-प्रतिघातों को सहन कर अमर रह सका है और उन आक्रमणकारियों को अपने में इस प्रकार मिला सका है जैसे दूध में शर्करा। छोटी-छोटी बातों पर लोग उपनिषदों के प्रमाण देने लगते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि उपनिषद् है क्या वस्तु। वास्तव में जिस अनादि, अनन्त और गम्भीरतम ज्ञान में सनातन-धर्म आरूढ़ मूल है, उस ज्ञान का भाण्डार ही उपनिषद् है। वह ज्ञान चारों वेदों के सूक्तांशों में पाया जाता है; किन्तु वह स्तोत्रों के बाहरी अर्थों द्वारा इस प्रकार आच्छादित है जिस प्रकार आदर्श में मनुष्य की प्रतिमूर्ति।

दुर्भाग्यवश हमारी असावधानी से काल-गति ने हमारे धर्म का रूप ही विकृत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह इतना संकीर्ण हो गया कि आज उसमें इतर धर्मानुयायियों को स्थान मिलना तो दूर रहा उसके अंग ही अनधिकारी समझे जाने लगे। वह विशाल सनातन-धर्म अधिकांश बातों में ब्राह्मणों की और कुछ में द्विजाति मात्र की पैतृक-सम्पत्ति बन गया। फल-

स्वरूप हिन्दू-धर्म की कितनी ही जातियाँ पैरों तले निर्दयता से रौंद डाली गईं कि जिनके भग्नावशिष्ट चिह्न अस्थि-पंजर ही रह गये। हरिजनों के साथ सबसे अधिक निष्ठुरता और अमानुषिकता का व्यवहार यह हुआ कि उनकी ईश्वर-भक्ति का अधिकार भी छीन लिया गया। धर्म के उत्तरोत्तर विशाल होने का वह मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया गया जिससे होकर गुजरने में देश और जाति का कल्याण था। इस प्रकार धर्म ने भी विकृत सामाजिक रूढ़ियों में शरण पायी। हम ईश्वर-दर्शन करेंगे, तुम ईश्वर-दर्शन के अधिकारी नहीं हो यह कहना भला कहाँ का धर्म है? यदि यह विचार सनातन होता तो भिल्लिनी, निषाद और अजामिल की क्या गति हुई होती? सोचने की बात है कि क्या धर्म भी अन्य-सम्पत्तियों की तरह बँटवारे की वस्तु है? कोई भी धर्म अपने प्रत्येक अनुयायी के लिए समान अधिकार देता है।

कुछ लोगों की दलील है कि हरिजन अपनी रुचि से मन्दिरों में जाने के लिए अनुरोध नहीं करते पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त सुधारक व्यर्थ ही यह आन्दोलन उठाकर धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसके उत्तर में नम्रतापूर्वक यही कहा जा सकता है कि हरिजनों की मनोवृत्तियों को तुच्छ बनाने का उत्तरदायी कौन है? यदि किसी भूले हुए और अपने ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों से वंचित को उसके अधिकारों का ज्ञान कराना धर्म-नाश करना है तो माता-पिता या गुरुजनों को अज्ञ बालकों अथवा अबोध अज्ञानियों को शिक्षा देना भी धर्म-हनन ही है। विचार-परम्परा की एक ही कसौटी पर समानधर्मी एकवर्णीय

वस्तु की परख होती है। इस उत्थान-युग में देश, काल और पात्र का विचार करके हमें यह सोचना होगा कि जिस प्रकार जाति-धर्म व्यक्तिगत धर्म आदि स्वतंत्र और अबाध हैं, उसी प्रकार युग-धर्म का प्रवाह भी किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। इस समय हमारी बिखरी हुई शक्ति को एक होना है और वह सहस्रों विघ्न-बाधाओं के निरन्तर उपस्थित होते रहने पर भी एक होकर ही रहेगी। यह पारस्परिक संघर्ष तो उसके लिए गति-वर्धक होगी। केवल भावी इतिहास में विरोधियों की कीर्त्ति या अपकीर्त्ति कालिमा की एक रेखा अंकित हो जायगी।

इस समय यह आन्दोलन क्यों उठ खड़ा हुआ और इसका हल हो जाना क्यों आवश्यक है, इसपर विचार करना है। यह प्रश्न जैसा कि महात्मा जी ने कहा है केवल राजनीतिक नहीं है, सर्वथा सार्थक है। राजनीति में धर्म और धर्म में राज-नीति का ऐसा संमिश्रण है कि उनका पृथक् करना कठिन काम है। समय ही बतलावेगा कि राजनीतिक दृष्टि से इस प्रश्न का क्या महत्व है। यहाँ उसका उल्लेख करना सम्भव है कि हमारे उद्देश्य में बाधक सिद्ध हो। युग-धर्म क्या करना चाहता है, उसकी स्थिरता कहाँ होगी और स्थिरता होगी या नहीं, यह ध्यान देने योग्य बात है। अन्तर्नाद ही इसका यथार्थ किन्तु स्पष्ट उत्तर देगा। यह समझना कि यह आन्दोलन केवल स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए है, सर्वथा भ्रामक है। यदि यही बात होती तो अमेरिका, फ्रांस, इङ्गलैंड, जापान आदि स्वतंत्र देशों में ऐसी अशान्ति पैदा होने का कोई कारण नहीं था। किन्तु पराधीन भारत की ही तरह उक्त देशों में अशान्ति का सुदृढ़

साम्राज्य प्रसरित हो रहा है। कारण यह है कि संसार के शत्रु वायु-मंडल में मानव-जगत् जिस उच्च भाव का स्वप्न देख रहा है, वह सार्वभौम राज्य या उससे निम्न श्रेणी की ऐसी सुव्यवस्था संस्थापित करना चाहता है जिससे भविष्य में युद्ध होने की सम्भावना ही न रह जाय यह अन्तर्हित भावना अभी शताब्दियों के बाद प्रस्फुटित होगी। उसी का यह आन्दोलन हल्का आभास है। इसकी अबाधगति को कोई भी प्रबल से प्रबल शक्ति रोकने में समर्थ नहीं हो सकती। महात्मा गांधी इस युग के प्रथम प्रवर्त्तक हैं। उनके विचारों की यथार्थ रीति से महत्ता समझना साधारण काम नहीं है। इस वेगवान प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करनेवाले अपना अस्तित्त्व खो बैठेंगे और कुछ न होगा।

इसलिए इस भीषण युग में हमारा धर्म है कि पहले हम अपनी बिखरी हुई शक्ति को धार्मिक एकता के सुदृढ़ बन्धन में जकड़कर भावी युग-निर्माण के लिए एक ऐसा प्रशस्त मार्ग तैयार करें जिसका पथिक होने में राष्ट्रीयता को बाधा पहुँचाने-वाला कोई आक्रमण ही न हो। धर्म तो प्रत्येक मनुष्य का एक है। उसमें विभिन्नता नहीं। विभिन्नता है पथ-निर्देश में। मन्दिर और मसजिद का प्रश्न झगड़े की जड़ हो रहा है। पर इन्हें ऐसा रूप भी दिया जा सकता है जिससे धार्मिकता का चिन्ह भी बना रह सकता है और परस्पर-विरुद्ध आक्रमण भी रुक सकता है। इसी प्रकार के विश्व-धर्म के स्थापन में संसार का कल्याण है। इसकी तैयारी के लिए हमें मिथ्यात्त्व को मिटा देना होगा। अपनी धार्मिक एकता के उद्योग में विवेक-बुद्धि से सहायक होना हिन्दू मात्र का कर्त्तव्य और धर्म है।

अंगहीन होकर हम अपने शरीर और धर्म की रक्षा नहीं कर सकते केवल दुःखी ही रहेंगे। द्विजाति के प्रत्येक व्यक्ति से यही प्रार्थना है कि अपना अंग काटकर अलग न फेंक दो, इसमें शोभा और निर्वाह नहीं है यदि सावधानी से उसे न छोड़ोगे तो बहुत जल्द अब वह अलग हो जायगा—क्योंकि अब लटके रहने की शक्ति उसमें नहीं रह गयी है। अपने को अपना लो लला! वही रक्त मांस, वही बनावट वही वाह्येन्द्रिय और अन्त-रेन्द्रिय हरिजनों के शरीर की भी है जो तुम्हारे शरीर की। फिर धार्मिक भेद-भाव कैसा।

देवनारायण द्विवेदी

वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-परिवर्तन

(लेखक—पण्डित रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार)

वर्ण-व्यवस्था का जन्म मनुष्य-समाजके समुचित संघटन और संव्यूहन के लिये मनुष्य की क्रमविकसित बुद्धि के द्वारा अथवा ईश्वर के द्वारा दी हुई विभूति है? इस प्रश्न की विवेचना करने पर हम इसी परिमाण पर पहुंचते हैं कि सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों ही प्रकृति के धर्म हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद से सात्विकी, राजसी और तामसी प्रवृत्ति के बहुत से भेद हो सकते हैं। गीता (अ० १८ श्लो० २०—४०) में इन गुणों की विस्तृत चर्चा करने के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों के विभाग का निर्देश (१८।४१—४४) किया है। उस निर्देश से यह बात आपाततः

मन में आ जाती है कि गुणों का तारतम्य ही वर्णों के तारतम्य का जनक, उत्पादक अथवा अभिव्यंजक है। अर्थात् मनुष्य ने स्वयं इसको अंतर्बुद्धि की सहायता से जन्म दिया है। इन गुणों, कर्मों और कर्मों की वासनाओं तथा उससे उत्पन्न कर्मफलों एवं विविध योनियों के सुख-दुःख आदि के कार्यकारण भाव का सतत प्रवाह वृक्ष और बीज के प्रवाह के समान अनादि है। अच्छे कर्मों की अच्छी वासनाएँ और अच्छी वासनाओं से पुनः अच्छे कर्म का और कहां से प्रारम्भ है और कब समाप्ति तथा बुरे कर्मों की बुरी वासनाएँ तथा उन बुरी वासनाओं से पुनः बुरे कर्म की धारा कब और कहां जन्म लेती है, तथा कहां, कब और कैसे समाप्त हो जाती है, इसका स्पष्ट रूप से विभक्त कर देनेवाली रेखा न तो कोई है और न हो ही सकती है।

उदाहरण के तौर पर हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं। किसी बालक के हृदय में किसी फूल को चुराने का भाव आया। सबसे प्रथम बार फल की चोरी करते समय उस बालक के हृदय में भय, शंका लज्जा आदि के नाना भाव पैदा होते हैं। परन्तु चोरी करते रहने से शनैःशनैः उसके हृदय में चोरी की वासना बस जाती है। चोरी की वासना के उपरान्त, चोरी करने में प्रथम बार चोरी के समान भय, शंका और लज्जा आदि उसको (बालक को) आकर नहीं सताते। सम्भव है कि इस वासना के द्वारा वह प्रबल और विख्यात चोर हो जाय। परन्तु इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि उसको चोरी से एकदम घृणा हो जाय और वह सत्कर्म में प्रवृत्त होने लगे। इस बात को समझने के लिए जल में डूबी हुई तूंबी पर ध्यान देना चाहिये।

एक तूंबी में एक पतली सूत की रस्सी बांध दी उसी रस्सी में एक पत्थर की शिला भी बांध दी। शिला के साथ तूंबी भी जल में डूब जायगी। कुछ समय बाद शिला और तूंबी में बँधी रस्सी सड़ जायगी। रस्सी के सड़ते ही तूंबी दस, बीस अथवा पचीस गज पानी के नीचे से भी निकलकर एकदम ऊपर आकर तैरने लगेगी। इसी तरह यही बात कर्म और कर्मफल तथा कर्मों की वासनाओं के सम्बन्ध में हुआ करती है। कब और कहां एक कर्म का फल समाप्त होता है इसे बताना पूर्ण सम्भव नहीं। अशुभ वासनाओं के कारण अशुभ कर्मों का करनेवाला व्यक्ति भी कदाचित् बहुत शीघ्र ही और सम्भवतः शनैः शनैः शुभ कर्मों को करने लगे। इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि शुभ वासनाओं के कारण शुभ कर्मों को करनेवाला व्यक्ति भी प्रायः ही कुत्सित और वीभत्स कर्मों में प्रवृत्त हो जाय इन्हीं कर्मों के आधार पर मनुष्य-समाज में उसकी स्थिति (अवस्था) होगी। इन्हीं कर्मों के अनुसार लगातार संचित होनेवाली वासनाओं से प्रेरित होकर वह अपनी जीविका का साधन चुनेगा। वाह्यवृत्ति से उस व्यक्ति की आभ्यन्तर वृत्ति का ज्ञान होगा। उसी चुनी हुई वृत्ति के आधार पर उस व्यक्ति का वर्ण (वरण = चुनाव) व्यवस्थित होगा। समाज-शास्त्र में इसे ही 'वर्ण-व्यवस्था' के नाम से निर्दिष्ट किया है। जीविकार्जन के लिये चुनी हुई वृत्ति से किसी व्यक्ति को उच्च या नीच नहीं कह सकते। उच्चता या नीचता को व्यक्त करनेवाले कुछ और ही लक्षण हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमों एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान इन पाँच नियमों

का पालन यथा सम्भव न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार के गुणों के कारण उच्चता या नीचता की व्यवस्था करनी होगी, केवल जीविका के साधन से नहीं।

मनुष्य-समाज की उपमा एक शरीर से दी जा सकती है। पुरुष सूक्त के मन्त्र में [ब्राह्मणोस्यमुखमासीद् इत्यादि में] इसी बात को गुम्फित किया गया है। जिस प्रकार शरीर के टुकड़े टुकड़े करके शरीर को छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता, किसी अंग विशेष को दुःखित और पीड़ित नहीं किया जा सकता, यदि कारणवश किसी अंगविशेष को ही कोई क्षति उठानी पड़े, तो उसका प्रतीकार भी तत्परता के साथ बिना विलम्ब करना अनिवार्य होता है, ठीक उसी प्रकार समाज की रक्षा के लिये उसके सब अंगों को एक सा रक्षण, भरण, पोषण और संशोधन अनिवार्य है। किसीको पद-दलित कर अधिकार-हीन करना अथवा सत्कर्म का अवसर ही न देना समाज के लिये घातक होगा। हमारे (हिन्दू-धर्म के) मान्य-ग्रन्थों का भी यही आदेश है। प्राचीन सनातन व्यवहार भी ऐसा ही है। कर्म करने की स्वतंत्रता और श्रेष्ठ कर्मों के सम्पन्न करने का द्वार सबके लिये खुला है। महाभारत में कहा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणापूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

—महाभारत शान्तिपर्व, अ० ७२

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥
सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषिणः।

एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजः ॥
शूद्रोऽपि शील-सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत् ॥
शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्य द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्पे वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्पे तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥

—महाभारत वनपर्व, १४२

अर्थात्—

वर्णों की कोई विशेषता नहीं है, यह संपूर्ण संसार एक ही ब्रह्म (ईश्वर) का रचा हुआ है। पहिले ब्रह्म ने इसे बना दिया, तब कर्मों के भेद से भिन्न-भिन्न वर्णों को प्राप्त हुआ।

हे युधिष्ठिर ! यह सारा जगत् पहिले एक वर्ण था। पर कर्म और क्रिया के भेद से चार वर्ण हो गये। सब मनुष्य एक ही प्रकार से उत्पन्न होते हैं, सबका शरीर एकसा ही मलमूत्रमय होता है, सबके एक सी हस्त, पाद, आँख, आदि इन्द्रियाँ हैं, उन इंद्रियों के विषय भी एक ही हैं, इसलिये मनुष्य अपने आचार व्यवहार आदि के कारण ही द्विज अर्थात् ब्राह्मण आदि त्रिवर्ण का कहा जाता है।

शूद्र भी यदि उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से युक्त हो तो ब्राह्मण हो जाता है। और जन्मना ब्राह्मण होने पर भी यदि वह क्रियाहीन हो तो शूद्र से भी नीचा (चतुर्वर्ण बाह्य) हो जाता है। यदि जन्मना शूद्र में सदाचरण हो और जन्मना द्विज में नहीं तो जन्मना शूद्र वस्तुतः शूद्र नहीं है अपितु कर्मणा वह

द्विज है और जन्मना द्विज भी वस्तुतः द्विज नहीं है अपितु वह भी कर्मणा शूद्र ही है। जिसमें सदाचरण पाया जाय उसको ही शास्त्र ब्राह्मण कहते हैं। अर्थात् वर्ण की कसौटी कर्म है, जन्ममात्र नहीं।

मनुस्मृति में भी इसी भाव की पुष्टि की है—

द्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

—मनु १०-६५

अर्थात्—जन्मना शूद्र अपने गुण कर्म के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि बन सकता है। और इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य भी कर्मणा अपने वर्ण को परिवर्तित कर सकते हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र आदि में भी यही आशय गुम्फित किया गया है। जैसा कि निम्नसूत्र से व्यक्त है—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ।

पुराणों में इस विषय के शतशः उदाहरण मिलते हैं। पृषध्रु, गुरु की गौ का वध करके शूद्रत्व को प्राप्त हो गया।

पृषध्रुस्तुगुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगत्।

—विष्णु पुराण, ४।१।१४

नेदिष्ठ पुत्र नाभाग क्षत्रिय से वैश्य हो गया और इस वंश के पुरुष पुनः वैश्य से क्षत्रिय हो गये।

नाभागोनेदिष्ठपुत्रस्तु वैश्यतामगमत्।

—विष्णुपुराण, ४।१।१६

इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे वर्णव्यवस्था और वर्णपरिवर्तन पर उचित प्रकाश पड़ता है ।

यज्ञ और देव-पूजा

(लेखक—पण्डित रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार)

हम कह चुके हैं कि शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है। इस 'यज्ञ' का अधिकार मनुष्यमात्र को है—यह भी हम यजुर्वेद के महीधर और उव्वर के भाष्यों के अर्थ से सिद्ध कर चुके हैं। जब हम 'यज्ञ' के विस्तृत क्षेत्र का स्मरण करते हैं तो बात अनायास स्पष्ट रूप से स्वयं व्यक्त हो जाती है कि सम्पूर्ण शुभ कामों में सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को समान अधिकार हैं। सूर्य, चन्द्र, मेघ, अग्नि और वायु आदि पदार्थ के उपयोग का जैसे सबको अधिकार है, ये सब जैसे प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपेक्षित सामर्थ्य के अनन्तर अविशिष्ट फलप्रदाता हैं, ठीक वैसे ही ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग तथा भक्ति-मार्ग के अनुसार अपनी लोकयात्रा को अतिवाहित करने का सबको अविशिष्ट अधिकार है। सब व्यक्तियों को अधिकार है कि वे पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) की सिद्धि करें। भूख, प्यास, शीत, आदि के दुःखों को दूर करने के लिये जैसे सब मनुष्य प्रयत्नशील हो सकते हैं, ठीक वैसे ही 'जन्म' रूपी दुःख को दूर करने तथा निःश्रेयस (मोक्ष = मुक्ति = निर्वाण) की उपलब्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्नशील हो सकता है।

इसकी आज्ञा स्वयं वैदिक मन्त्र देते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के द्वितीय मंत्र में कहा गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।

अर्थात्—कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा (मनुष्य) करे। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चतुर्वर्णवाह्य सबको एक ही जाति का मानकर एक ही भाँति कर्म करने और कर्म करते हुए ही अपने मनुष्यजीवनको सफल बनाने का आदेश है। मनुष्य के सम्पूर्ण शुभ प्रयत्न भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ कहे जा सकते हैं। गीता (४।२८) अनुसार द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि सब यज्ञ ही हैं। प्रजापति ने अपनी प्रजा को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया है। गीता (३।१०।११) में कहा गया है—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

गीता के इन श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रजापति की सम्पूर्ण प्रजा उचित योग्यता को सम्पादन करती हुई, देवताओं की पूजा करके अपने इष्ट कामों की सिद्धि करने का अधिकार रखती है। वेद के अनुसार सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को यज्ञाधिकार है। इससे यह बात स्वयं सिद्ध है कि देवदर्शन और देवपूजन तथा मन्दिर-प्रवेश आदि का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चतुर्वर्णवाह्य निषाद आदि को प्राप्त है ही। कुछ व्यक्ति इस विषय में कभी-कभी शंकाग्रस्त हो जाते हैं। अतः

हम इसको कुछ अधिक स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं। छान्दोग्योपनिषद में धर्म के तीन ही स्कन्ध बताये गये हैं 'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति' अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं। (१) यज्ञ, (२) अध्ययन और (३) दान। धर्म के 'यज्ञरूपी स्कन्ध' में अवान्तर रूप से 'देवपूजन' आदि की गणना की जायगी। मन्दिर-प्रवेश और देवदर्शन आदि भी इस के ही अवान्तर रूप होंगे। (यज् देवपूजासंगतिकरण दानेषु इस धातु के अर्थ से भी यह सिद्ध है) अतः यज्ञाधिकारियों को देवदर्शन, मन्दिर-प्रवेश और देवपूजन के अधिकार हैं ही। इसको न स्वीकार करना वेद और उपनिषद आदि में बतलाये गये सनातन-धर्म की सचाई और अच्छाई को दूषित करना होगा।

यज्ञ अथवा याग का सामान्य स्वरूप प्रपितादक लक्षण यह है—देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यागः अर्थात् देव अथवा देवता को ध्यान में रखकर उसके निमित्त द्रव्य (आहुति आदि के द्वारा) प्रदान करना। इस यज्ञ के अनेक भेद हैं। कात्यायन-श्रौतसूत्र और पारासर गृह्यसूत्र आदि के भाष्यों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन सबका संक्षेप यह हो सकता है। प्रथम तो यजति और जुहोति भेद से याग दो प्रकार का है। पुनः प्रधान और अंग-भेद से यह दोनों भी दो प्रकार के हैं। इष्टि, हौतु और सोम-भेद से इनके भी तीन भेद हैं। इनमें भी हविःसंस्था, पाकसंस्था और सोमसंस्था के अलग अलग समुदाय हैं।

हविः संस्था में—(१) अग्न्याधेय, (२) अग्निहोत्र (३)

दर्शपौर्णमास, (४) पौर्णमास, (५) आग्रायण (६) चातुर्मास्य (७) पशु बन्ध ।

पाक संस्था में—(१) सायं होम, (२) प्रातर्होम (३) स्थालीपाक (४) नवयज्ञ (५) वैश्वदेव (६) पितृयज्ञ (७) अष्टका ।

सोम संस्था में—(१) अग्निष्टोम (२) अत्यग्निष्टोम (३) उक्थ (४) षोडशी (५) वाजपेय (६) अतिरात्र (७) अप्तोर्याम । आदि आदि उपभेद हैं ।

सोमयाग के—(१) एकाह (२) अहीन और (३) सत्र यह तीन भेद और भी कहे जाते हैं । इन यज्ञों के अन्य उपभेद काम्ययागों की बहुत बड़ी संख्या है । आयुष्कामेष्टि, पुत्रकामेष्टि, वर्षकामेष्टि, वैश्वानरेष्टि, नवसस्येष्टि आदि सब 'काम्य याग' हैं । वेद, ब्राह्मण और अन्य सच्छास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चतुर्ववर्ण वाह्य व्यक्ति सब यज्ञ के अधिकारी हैं। सब उपर्युक्त यज्ञों को करने का अधिकार रखते हैं । वेद के अनुसार 'पंचजन' को यज्ञाधिकार है । होता, ऋत्विज् तथा उसके सहायक मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् यदि पंचजन हो सकते हैं, तो क्या मन्दिर-प्रवेश और देव-दर्शन के अधिकार से 'पंचजन' में से कोई भी पृथक् किया जा सकता है ? सनातन धर्म के अनुसार पंचजन के इस अधिकार को कोई किसी से छीन नहीं सकता । योग्यता सम्पादन करने के क्षेत्र का द्वार सबके लिये खुला है । जन्मना द्विज होने पर भी योग्यताहीन व्यक्ति 'शूद्र' और पतित हो जाता है—मनुस्मृति में कहा है ।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

अर्थात्—जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र ही श्रम करता है। वह अपने अन्वय (वंश) के सहित इस जीवन में 'शूद्रत्व' को प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत भी मनुस्मृति कहा गया है कि—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

अर्थात् स्वाध्याय, व्रत, होम, महायज्ञ आदि के द्वारा यह शरीर ब्राह्मण का किया जा सकता है। अर्थात् ब्राह्मण आदि वर्णों की कसौटी 'कर्म' न कि जन्म है। ज्ञानार्जन और तपस्या से मनुष्य अपने आपको समुन्नत कर सकता है। गीता में भी कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इसका अर्थ स्पष्ट ही है।

गीता के चतुर्थ अध्याय के कुछ श्लोक इसी भाव के हैं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ गीता ४।३६

अर्थात्—यदि मनुष्य घोरतम पाप का करनेवाला भी हो तो भी ज्ञानरूपी डोंगी का आश्रय करके वह उसके पार पहुँच जाता है। ज्ञान मनुष्य को पवित्र और उच्च बनानेवाला परम साधन है। मनुष्य उच्च और नीच जन्मना नहीं है अपितु कर्मणा ही उच्चता या नीचता मनुष्य में आती है। इसका विवेचन आगे किया जायगा। परन्तु यहाँ पर एक बात नहीं भूलनी चाहिये। वह बात यह है कि—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को 'पुरुषार्थ चतुष्टय' कहते हैं। सम्पूर्ण मनुष्यों के लिये यह एक ही से उद्देश्य और साध्य है। 'मोक्ष' आदि 'द्विजार्थ' ही नहीं

है 'पुरुषार्थ' शूद्र भी मुक्त होने की इच्छा कर सकता है तथा चतुर्वर्णबाह्य भी मुक्त होने की इच्छा कर सकता है।

अन्त्यजों का वेदाधिकार

(लेखक—आचार्य इन्द्रारमण शास्त्री।)

(धर्मजिज्ञासुओं के लिये वेद ही परम प्रमाण हैं)

इस मनु-वचन की टीका करते हुए श्री कुल्लूक भट्ट यों लिखते हैं—

"धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः।

प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः"

अर्थात् धर्म को जानने की इच्छावालों के लिये प्रकृष्ट प्रमाण वेद है। प्रकर्षबोधन से [प्रकृष्ट कहने से] तात्पर्य यह है कि श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर स्मृति का कथन अमान्य होता है।

इसी प्रसंग में प्रमाण के लिये अन्य शास्त्रीय वचन उद्धृत करते हुए भट्टजी ने आगे लिखा है—

अतएव जाबालः—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्त्तं वैदिकवत्सता॥

भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—

श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।

जैमिनिरप्याह—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।

इन वचनों के समुद्दनुवाचन से ही यह बात स्पष्ट प्रतीत होगी कि वैदिक निषाद ही वर्तमान काल के अन्त्यज हैं। भेद इतना है कि वैदिक काल में चारों वर्णों के अतिरिक्त उनकी एक ही निषाद जाति थी, किन्तु आगे चल कर कई अवांतर प्रभेद हो गये जो अभी तक विद्यमान हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि वेदवचनों के अनुसार ही वैदिक निषादों के जो धार्मिक अधिकार प्रमाणित हों या समाज में उनका जो स्थान निश्चित हो वह आज के अन्त्यजों को भी मिलना चाहिये। यदि इस विषय में कुछ स्मृतियों का विरोध भी हो तो वैदिक वचनों के सामने वह उपेक्षणीय है।

अब मैं अन्त्यजों के संबन्ध में वेद के वचनों के आधार पर विचार आरम्भ करता हूं

श्री रुद्रदेव शास्त्री ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के जिन मन्त्रों के आधार पर निषादों या अछूतों के यज्ञ-विषय के अधिकार का समर्थन किया है, उनका उल्लेख अब मैं न करूंगा, क्योंकि पाठक उन्हें पढ़ ही चुके हैं*किंतु निरुक्त के पंचजन-प्रकरण में ही भाष्यकार श्री दुर्गाचार्य ने यह दूसरी ऋचा भी [illegible] की है—

अग्निऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः तमीमहे महागयम्—यजुर्वेद अ० २६।९

इस मंत्र में आये हुए 'पांचजन्य' शब्द की व्याख्या करते हुए श्री महीधराचार्य अपने 'मन्त्र भाष्य' में कहते हैं—

'पाञ्चजन्यः पञ्चजनेभ्यो हितः। चत्वारोवर्णा निषाद पाञ्चमा पञ्चजनाः। तेषां हि यज्ञेऽधिकारोऽस्ति।'

अर्थात् चारो वर्ण और पांचवाँ निषाद इन सबका यज्ञ में अधिकार है।

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत ।
अस्तृणाद्बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः ॥

(ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)

इसकी अवतरणिका में पहले ही आचार्य ने लिखा है—

"यथा तु पंचजनशब्देन मनुष्या एव निषादपंचमा वर्णा उच्यन्ते तथैष निगमः"

अर्थात् इस निगम (मन्त्र) द्वारा पंचजन शब्द से निषाद को लेकर पांच वर्णवाले मनुष्य ही कहे गये हैं ।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए आगे आपने लिखा है—

पांचजन्यया विशा = पंचजनीन या विशा पंचजनसमुदाय-लक्षणया सहितैः स्तोतृभिः ऋत्विग्भिः अवर्षति इन्द्रे वर्षार्थिभिः घोषाः स्तुतीः असृक्षत = असृज्यन्त । निषादपंचमा वर्णा अर्त्ताः संतो वर्षाभावे अस्तुवतैव इंद्रम्" इत्यादि ।

अर्थात् निषाद के सहित पांच वर्णवाले ऋत्विजों ने वर्षा के लिये इंद्र की स्तुति की ।

इससे स्पष्ट है कि निषाद या अन्त्यज, जिन्हें हम आज अछूत बनाये हैं—द्विजातियों के साथ न केवल देवताओं की

इसी शब्द की व्याख्या महीधराचार्य ने अपने 'वेद दीप' में इस भांति की है—

'पाञ्चजन्यः पञ्चजनेभ्यो हितः विप्रादयश्चत्वारो वर्णा निषादश्चेति पञ्चजनास्तेषां यज्ञाधिकारात् ।'

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद को यज्ञ का अधिकार है । यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है । उसमें मनुष्यमात्र का एक सा अधिकार है ।

सार्वजनिक पूजा और प्रार्थना में ही सम्मिलित होते थे, किन्तु ऋत्विज (ऋतुयाजक या पुरोहित) भी होते थे।

ऋग्वेद में एक मंत्र और मिलता है जिसके द्वारा हम अन्त्यजों को द्विजातियों के साथ एक ही यज्ञकुंड में हवन करते हुए भी देखते हैं—

मित्राय पंच येमिरे जना अभिष्टिशवसे ।
स देवान्विश्वान् बिभर्ति । [ऋ० सं० ३, ४, ६,]
श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम् ।
असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥"

इन सभी वचनों का तात्पर्य यही है कि श्रुति के सामने स्मृति कोई चीज नहीं है, अतः जहां श्रुति के साथ विरोध हो वहां स्मृति मान्य नहीं है। यह सिद्धांत सब वैदिक मतावलम्बियों को एक सा मान्य है, इसलिये मैं भी सर्वप्रथम अंत्यजां या हरिजनों के धार्मिक अधिकार एवं सामाजिक स्थान का निर्णय वेद के अनुसार ही करूंगा।

इससे पहले अंत्यजों का वैदिक नाम जान लेना आवश्यक है। प्राचीनतम एवं सर्वमान्य आर्ष वैदिक कोष निघण्टु में मनुष्य के २५ नाम दिये गये हैं, जिनमें एक "पंचजन" भी है। इस शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने यों लिखा है—

"चत्वारो वर्णा निषादः पंचमः ॥" (निरुक्त अ० ३ खं० ८)

अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण तथा पांचवां निषाद इन्हें पंचजन कहते हैं। निषाद पद की निरुक्ति भी महर्षि यास्क ने स्वयं की है—निषादः कस्मात् ? निषदनो भवति, निषण्णमस्मिन् पापकर्मिति नैरुक्ताः'

इस निरुक्त वाक्य की व्याख्या श्री दुर्गाचार्य ने यों की है—

"निषध हन्तीति निषाद: प्राणिवधजीवन:"

अर्थात् तत्पर होकर मारनेवाले हिंसाजीवी मनुष्य का नाम निषाद है, अथवा जिसमें पाप स्थित हो उस मानव-जातिविशेष को निषाद कहते हैं।

अब देखना यह है कि लौकिक शब्दकोष से भी उपर्युक्त वैदिक अर्थ का समर्थन होता है या नहीं।

सुप्रसिद्ध अमरकोष में चाण्डाल के दश नाम यों उल्लिखित हैं—

चाण्डाल प्लव मातंग दिवाकीर्त्ति जनंगमा:।
निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डालपुक्कसा: ॥

(अमर २।१०।१९—२०)

इनमें भी निषाद शब्द आया है, जिसकी व्युत्पत्ति श्रीभानु दीक्षित ने व्याख्यासुधा में इस प्रकार की है—

"निषीदति पाप्मस्मिन्"

अर्थात् जिसमें पाप स्थित रहता है, उसे निषाद कहते हैं।

मेदिनी कोषमें भी लिखा है—

"निषाद: स्वरभेदेऽपि चाण्डाले धीवरान्तरे"

आगे चलकर अमर ने चाण्डाल जातिके अवांतर प्रभेद की गणना यों की है—भेदा: किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातय:।

. इसपर टीका करते हुए भानुदीक्षित लिखते हैं—

"किराता दयशबरो म्लेच्छज तत्चाण्डाल भेदा:"

श्रीखण्डराज दीक्षित ने इस मन्त्र की टीका पद्य एवं गद्य दोनों में इस प्रकार की है—

निषादपञ्चमो वर्णा मित्राय द्विषतः प्रति।
अभिगन्तृबलाढ्याय हवींष्युद्धारयन्ति वै॥
स्वस्वरूपतया देवान्धारयत्यखिलांश्च सः॥

मित्राय पंचेति। पंच जना निषादपंचमा वर्णाः अभिष्टिशवसे शत्रन् प्रति अभिगन्तृबलयुक्ताय मित्राययेमिरे हव्यान्युद्धारयंति स सूर्यो विश्वान्विभर्ति स्वस्वरूपतया सर्वान् देवांधारयति।

अर्थात् निषाद के सहित पांचवर्णवाले [होता] लोग शत्रुओं के अभिमुख जाने के उपयुक्त बलवाले सूर्य के लिये हविष (हवन-द्रव्य) प्रक्षेप कर रहे हैं, क्योंकि वह (सूर्य) अपने में सभी देवताओं को धारण करता है। फलतः एक सूर्य के उद्देश्य से ही हवन कर देने से अन्य सभी देवताओं की तुष्टि और पूजा सम्पन्न हो जाती है।

इन श्रुतियों के अनुसार यज्ञ हवन आदि धर्मकृत्यों में द्विजातियों के बराबर ही अंत्यजों का भी अधिकार ठहरता है, बशर्ते कि उनमें तदुपयुक्त योग्यता हो। इन प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि अस्पृश्यता या अछूतपन अवैदिक वस्तु है और हरिजनों को देव-मंदिरों में प्रवेश न करने देना तथा सार्वजनिक प्रार्थना-पूजा में सम्मिलित न होने देना वेद-विरुद्ध अतएव अधार्मिक कृत्य है।

अन्त्यजों के वेदाधिकार में वेदाध्ययन से लेकर वैदिक कर्मानुष्ठान तक का समावेश समझना चाहिये। लिखा जा चुका है कि निषाद को द्विजातियों के साथ एक ही यज्ञ-वेदी पर बैठकर हवन और देवस्तुति आदि करने का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। जब श्रौत यज्ञादि में उनका अधिकार प्रमाणित हो चुका तब

वेदाध्ययन में वह स्वयं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मन्त्र-प्रयोग पूर्वक सम्पन्न होनेवाले यज्ञादि का अनुष्ठान प्रथमतः वेदाध्ययन के विना सम्भव ही नहीं है। इस अर्थ का समर्थन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के निम्नलिखित मंत्र से अधिक स्पष्ट हो जाता है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥

स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र द्वारा शूद्रों के वेदाध्ययन का अधिकार प्रमाणित किया है। जब अध्ययनाधिकार सिद्ध हो चुका तब यज्ञ में अधीत मंत्रों के उद्गान का और तत्सम्बद्ध वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। किन्तु उवट और महीधर ने इस मंत्र से मनुष्य मात्र के सहयज्ञ एवं सहभोज का समर्थन किया है, अतः मैं नीचे उन्हीं का भाष्य उद्धृत करता हूँ।

उवट भाष्यम्—यथेमां। यथा इमां वाच कल्याणीम् अनुद्वेजिनीं "दीयतां भुज्यतामित्येवमादिकाम्" आवदानि जनेभ्योऽर्थाय। के ते जना? इत्यत।आह—ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मणाय राजन्याय च, "शूद्राय च, आर्याय च आर्यो वैश्यः, स्वाय च आत्मीयाय च, अरणः अपगतोदकः पर इत्यर्थः। आवदानीति सर्वत्र सम्बध्यते।

महीधरभाष्यम्—इमां कल्याणीमनुद्वेगकरीं वाचमहं, यथा यतः आवदानि सर्वतो ब्रवीमि "दीयतां भुज्यतामिति" सर्वेभ्यो-वच्मि। केभ्यः? तदाह—ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मणायराजन्याय क्षत्रियाय च, "शूद्राय", अर्याय वैश्याय, स्वाय आत्मीयाय,

अरणाय पराय = अरणोऽपगतोदकः शत्रुः, नास्ति रणः शब्दो येन सह वाक्सम्बन्धरहितः शत्रुरिति वा।

उपर्युक्त मन्त्र का अक्षर-स्वारस्य से निकलनेवाला भावार्थ तो इतना ही है कि (वेदपुरुष या वेदकर्ता ईश्वर या ऋषि) यह कल्याण करनेवाली बात जनों (मनुष्यमात्र) के लिये अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य एवं स्वजन तथा परजन (परस्पर के मित्र और शत्रु) सबके लिये कहता हूं। किन्तु वह बात कौन सी है? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी दयानन्द का मत है कि वह वेदवाणी है, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययनाध्यापन में मनुष्यमात्र का समान अधिकार इस मंत्रद्वारा घोषित किया गया है। किन्तु उवट और महीधर का कहना है कि वह कल्याणी बात "दीयतां भुज्यताम्" अर्थात् दान और भोजन की है अर्थात् इस मंत्रद्वारा मानवजाति को दान और भोजन का उपदेश दिया गया।

अब यह प्रश्न स्वतः उपस्थित होता है कि यहां दान और भोजन से भाष्यकारों के तात्पर्य का विषय क्या है?

उत्तर सरल है। प्रकृत मंत्र यज्ञसम्बन्धी और यज्ञप्रकरण में पठित भी है। अतः इसके द्वारा निर्दिष्ट दान एवं भोजन भी यज्ञसम्बन्धी अभिप्रेत हैं। यज्ञीय दान का अर्थ है देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग। (अग्नि में हविष आदि का प्रक्षेप) यज्ञीय भोजन का अर्थ है यज्ञशेष भोजन।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। (गीता)

आचार्य उवट के "भुज्यतामित्येवमादि काम्" में आदि शब्द से देवपूजा और स्तुति प्रभृति का ग्रहण विवक्षित है।

वस्तुतः यज धातु का अर्थ ही देवपूजा तथा दानादि है, जिसका तात्पर्य यज्ञ में है। अतः उवट और महीधर के मतानुसार प्रकृत मन्त्र से मनुष्य मात्र के लिये सहयज्ञ एवं सहभोज का विधान समान रूप से सिद्ध होता है। सारांश यह कि इस मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि दान अर्थात् देवतोद्देश्य से द्रव्यत्याग (हविष् आदि द्रव्यों का अग्नि में प्रक्षेप) रूप यज्ञ का अनुष्ठान और यज्ञशिष्ट भोजनादि श्रौत सत्कर्म मनुष्यमात्र को एक साथ मिलकर करना चाहिये, इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र और वैश्य तथा अपने और पराये का विचार न करना चाहिये।

अहो! सचमुच यह वाणी कल्याणी है, वैदिक कर्मानुष्ठान में और यज्ञशिष्ट भोजन में चारों वर्णों को ही नहीं, परस्पर के शत्रु और मित्र को भी एकत्र हो जाना चाहिये, कैसा सार्वजनीन परमोदार प्रेमभाव है! इसी प्रकार के विशाल हृदयवाले आर्यों की यह सार्वभौम भावना है।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहा सति॥

अस्तु, अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि उदाहृत मन्त्र में द्विजातियों के साथ शूद्रों के सहयज्ञ और सहभोज का आदेश तो उवट-महीधर-भाष्य के अनुसार स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु अन्त्यजों के सम्बन्ध में वह कैसे लागू माना जाय?

उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है। पूर्वलेख में पंचजनों के वेदाधिकार

का सप्रमाण समर्थन किया गया है, जिनमें पाँचवाँ निषाद वर्ण अन्त्य ही है। तदनुरोध से उदाहृत मन्त्र में भी 'जनेभ्यः' से मनुष्यमात्र अर्थात् पञ्चजन का ग्रहण विवक्षित है। इसीलिये महीधर ने 'जनेभ्यः' पद का अर्थ 'सर्वेभ्यः' किया है। सर्वजन में निषाद का भी संग्रह है ही। "ब्रह्मराजन्याभ्याम्" इत्यादि 'जनेभ्यः' का ही प्रपंच या व्याख्यान मात्र है। अतएव उवट ने 'के ते जना इत्यत आह' और महीधर ने 'केभ्यः? तदाह' अर्थात् वे जन कौन हैं, या किन (जनों) के लिये, इस प्रकार आकांक्षा उठाकर उसकी पूर्ति के लिये, ब्राह्मणादि की योजना की है। इससे अनायास ही प्रतीत होता है कि यहाँ शूद्र शब्द ही निषाद पर्यन्त का बोधक है। वेद-मन्त्रों में मनुष्य जाति के अर्थ में कई प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं पंचजन शब्द का प्रयोग है। जिसका उदाहरण प्रथम लेख में मिल ही चुका है। कहीं-कहीं द्विजवाचक आर्य शब्द और अनार्य अर्थात् शूद्र निषाद के बोधक दास, दस्यु तथा शूद्र शब्द का ही प्रयोग है। यथा—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्। (ऋ० सं० १५१।८१) साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता। (सं० १०।८३।१२) नव दशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येताम्। (शु० य० सं० १४।३०।१ क०) तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः। अथ० सं० ४।२०।३ ख०)

इत्यादि मन्त्रों में आर्य शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये एवं दस्यु, दास और शूद्र शब्द द्विजेतर अनार्यमात्र अर्थात् दास और दस्यु या शूद्र और निषाद दोनों के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अथवा प्रकृत मन्त्र (यथेमां) में 'अरणाय' से निषाद

का ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि 'अरण' पद का अर्थ उवट ने "परः" और महीधर ने "शत्रु" किया है आर्यों या द्विजों के लिये पराया या शत्रु शूद्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे उनके अनुगत होने के कारण ही दास कहलाने लगे थे। इसके विपरीत निषादों के साथ आर्यों की बड़ी शत्रुता थी, जिसके अगणित प्रमाण वेदों में ही मिलते हैं, अतएव उन्हें आर्य लोग दस्यु भी कहने लगे थे। सुतरां निषाद ही आर्यों के लिये पराया या शत्रु हो सकता है, अतः अरण पद से प्रकृत मन्त्र में निषाद का ही ग्रहण विवक्षित है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अन्त्यजों को भी द्विजों के समान ही वेदाध्ययन और वैदिक-कर्मयोग में पूरा अधिकार है। अतः उनका वह अधिकार यदि किसी कारण से बीच में छिन गया हो तो उसे शीघ्र लौटा देना चाहिये। इस आथर्वणिक मंत्र के अनुसार हमें सबका हितचिन्तन करना चाहिये—

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ (१९-१-८-१)

मुद्रक
बजरंगबली गुप्त 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।
प्रथम संस्करण २००० प्रतियाँ, सन् १९[illegible]

में ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी बहुत-सी फुटकर बातों का ज़िक्र किया है, जिसमें लेखक ने अमोघवीर्य, ऊर्ध्वरेता की परिभाषा, उपवास की आवश्यकता, खड़ाऊँ पहनने, लँगोट बाँधने, सूर्य तपने तथा आसन आदि करने की उपयोगिता और प्राणायाम के महत्व, तथा प्रेम के मूल्य पर प्रकाश डाला है। पुस्तक शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने में काफ़ी सहायक हो सकती है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि जो बात लेखक ने लिखी है, उसकी पुष्टि में उसने प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों तथा अनुभवी विद्वानों के उदाहरण भी दिये हैं। इस पुस्तक के पढ़ने से एक विचारवान स्त्री या पुरुष यह बात आसानी से समझ सकता है कि ब्रह्मचर्य-पालन से उसकी शारीरिक मानसिक तथा धार्मिक, सब प्रकार की उन्नति हो सकती है और संसार में किसी तरह का कष्ट नहीं हो सकता है। हिन्दी में इस विषय पर कुछ और भी पुस्तकें लिखी गई हैं, जिनमें लाला भगवानदीनजी की एक 'ब्रह्मचर्य की वैज्ञानिक मीमांसा' भी है। फिर भी यह पुस्तक भी अपना स्थान रखती है और लोगों को लाभ पहुँचाने में किसी तरह कम नहीं है। आजकल, हमारे पतन के समय, जब 'शक्ति पैदा करो' की आवाज़ देश के कोने-कोने से आ रही है, ऐसी पुस्तक जनता के लिये अवश्य गुणकारी सिद्ध होगी। इस पुस्तक के पढ़ने के लिये हम 'भारत' के पाठकों से अनुरोध करते हैं। भारत १९२९—कमलाप्रसाद

मासिक पत्रिका मनोरमा की सम्मति—

ब्रह्मचर्य की महिमा—लेखक—श्री सूर्यबली सिंह तथा प्रकाशक एस० बी० सिंह एण्ड को० बनारस सिटी।—पृष्ठ संख्या १५४ मू० १)

यह जीवन ब्रह्मचर्य पर ही स्थित है। ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर जितनी पुस्तकें निकाली जायँ वा लेख लिखे जायँ थोड़े हैं। इस विषय पर दो एक पुस्तकें अवश्य निकल चुकी हैं पर इसमें उन सभों से कुछ विशेषता अवश्य है। ब्रह्मचर्य के प्रत्येक पहलुओं पर काफी प्रकाश डाला गया है। साथ ही ब्रह्मचर्य के अत्यन्त आवश्यक अङ्ग प्राणायाम, आसन,

गार्हस्थ्य-जीवन विधि आदिको भी बड़ी सरलता के साथ समझानेका प्रयत्न किया है। इस पुस्तक द्वारा पाठक यौगिक प्राणायाम भी सीख सकते हैं।

पुस्तक में ब्रह्मचर्य की महिमा, अष्ट-मैथुन, ब्रह्मचर्य की विधियाँ, सङ्गीत, बाल-शिक्षा, स्त्री-ब्रह्मचर्य, स्त्री-पुरुष जीवन आदि विषयों को बड़ी खूबी के साथ समझाया है। पुस्तक, स्त्री पुरुष, तथा विद्यार्थियों के लिये बड़ी ही उपयोगी है विशेषकर छात्रों को तो अवश्य इसकी एक-एक प्रति अपने पास रखनी चाहिये। छपाई सफाई उत्तम है। जनवरी १९२८ प्रयाग

साप्ताहिक प्रताप की सम्मति—

ब्रह्मचर्य की महिमा;—लेखक-श्री सूर्यबली सिंह, प्रकाशक-एस० बी० सिंह ऐण्ड को० बनारस सिटी, पृष्ठ १५४, मूल्य १)

'ब्रह्मचर्य की महिमा' में ब्रह्मचर्य की महिमा; ब्रह्मचर्य से लाभ; विभिन्न प्रकार के मैथुन, स्कूलों कालेजों में दुराचार, ब्रह्मचर्य-पालन की विधियाँ, आहार, शिक्षा; माता-पिता के कर्तव्य आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। अब तक इस विषय की कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। फिर भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर अनुभव और योग्यता के साथ जितना अधिक प्रकाश डाला जाय, उत्तम है। इस पुस्तक में उपरोक्त विषयों पर अच्छी तरह प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। पुस्तक नवयुवकों के पढ़ने लायक है। —'प्रताप'

स्काउटों का एकमात्र मासिकपत्र सेवा की सम्मति-

ब्रह्मचर्य की महिमा—लेखक श्री सूर्यबलीसिंहजी, प्रकाशक एस० बी० सिंह एण्ड को० बनारस सिटी। मू० १)

यह पुस्तक ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यव्रतावलंबन के विषय पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है और सबसे ज्यादा अच्छी बात यह है कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिये बहुत-सी व्यवहारिक बातें इसमें दी गई हैं। सेवा' मार्च १९२९

नारी-धर्म-शिक्षा

पर

उपन्यास-सम्राट श्रीयुत् प्रेमचन्दजी की राय

नारी-धर्म-शिक्षा—लेखिका, श्रीमती मनव्रता देवी,
प्रकाशक, एस० बी० सिंह एण्ड को०, बनारस सिटी, मूल्य १।)
पृष्ठ-संख्या १६२ काग़ज़ बढ़िया, छपाई अच्छी।

नारी-धर्म-शिक्षा-संबंधी आजकल बहुत किताबें निकलती रहती हैं लेकिन अधिकांश पुरुषों की लिखी होती हैं और पुरुष स्वभावतः स्त्रियों के साथ कुछ अन्याय कर बैठते हैं। इस पुस्तक की लेखिका पुराने आदर्शों को माननेवाली एक महिला हैं। हमें यह देखकर खुशी हुई है कि महिलाएँ भी अपनी बहनों की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दे रही हैं। संभव है नई रोशनीवाली बहनों को पुरुष-सेवा और पारिवारिक सेवा का आदर्श दकियानूसी मालूम हो लेकिन जो देवियाँ अपनी कन्याओं को फ़ेशनेबल लेडी नहीं, सह-धर्मिणी बनाना चाहती हैं, उन्हें इस किताब से बड़ी सहायता मिलेगी। स्त्रियों के लिये जिन बातों के जानने की जरूरत होती है वे सब यहाँ सरल और शिष्ट भाषामें मिलेंगी। नीति स्वास्थ्य, संतति पालन हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री, गृह-शिल्प, आदि सभी बातों का उल्लेख किया गया है और इस ढंग से कि थोड़े में सभी बातें आ गई हैं—शब्दों का माया-जाल नहीं है। महिला-शालाओं की ऊँची कक्षाओं में यह पुस्तक रख दी जाय तो बालिकाओं को विशेष लाभ होने की आशा है।

(माधुरी)—प्रेमचन्द

सम्मतियाँ

नारी-धर्म-शिक्षा" के सम्बन्धमें हिन्दी-जगत्‌के सुपरिचित श्रीयुत प्रेमचन्द्रजीने ठीक ही लिखा था कि 'जो देवियां अपनी कन्याओंको फैशनेबुल लेडी नहीं, सहधर्मिणी बनाना चाहती हैं, उन्हें इस किताबसे बड़ी सहायता मिलेगी।" वास्तवमें पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है। नीति, स्वास्थ्य, गृह-चिकित्सा, सन्तान-पालन, हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री आदि विषयोंमें किन्तु स्पष्ट लिखकर श्रीमती लेखिका महोदयाने पुस्तककी उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ा दी है। दुख है कि अबतक ऐसी उपयोगी पुस्तक कन्या-विद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में नहीं रखी गई। इससे बालिकाओंका विशेष उपकार होता।

—पार्वती देवी

मासिक-पत्रिका सरस्वती की सम्मति

नारी-धर्म-शिक्षा—श्रीमती मनव्रता देवी ने इस पुस्तक में स्त्रियों के जानने के योग्य प्रायः सभी बातों का समावेश करनेका प्रयत्न किया है। पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है किसी भी सदाचारिणी स्त्री को पति तथा उसके अन्य कुटुम्बियों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और वह अपने परिवार एवं सन्तान आदि को किस तरह सुखी एवं हृष्टपुष्ट बना सकती है, इन सब बातों पर इसमें विस्तार के साथ विचार किया गया है। पुस्तक उपयोगी है। इसके प्रकाशक हैं श्रीयुत एस० बी० सिंह ऐण्ड को० बनारस सिटी। "सरस्वती" १९२९ अप्रैल।

मासिक पत्रिका "मनोरमा" क्या कहती है

नारी-धर्म-शिक्षा—लेखिका श्रीमती मनव्रतादेवी तथा प्रकाशक एस० बी० सिंह एण्ड को बनारस सिटी। पृष्ठ संख्या १६२ मूल्य १।)

श्रीमती जी के प्रतिभा का फल-स्वरूप नारीधर्म-शिक्षा हमारे सामने है। यद्यपि यह पुस्तक सिर्फ १६२ पृष्ठों की ही है पर स्त्रियोपयोगी ऐसा कोई प्रधान विषय नहीं जो इसमें न आया हो। बाल-शिक्षा, गृहकार्य, घरवालों के साथ बर्ताव, सन्तान-पालन, रोग-चिकित्सा; व्यंजन बनाने की रीति, पति-सेवा आदि सभी विषयों पर बड़ी खूबी के साथ प्रकाश डाला गया है। पुस्तक इतने काम की है कि यदि माताएँ व बहिनें इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ने का कष्ट उठावेंगी तो वे अवश्य यही निष्कर्ष निकालेंगी कि प्रत्येक घरमें इस पुस्तक की एक दो प्रति अवश्यमेव रहनी चाहिये। श्रीमती जी पहिली स्त्री-रत्न हैं जिन्होंने इस शैली की पुस्तक की रचना की है। इस पुस्तक को बना कर आपने स्त्री-समाज का जो उपकार किया है वह अवर्णनीय है। हमें पूरी आशा है कि हिन्दी संसार अवश्य नारी-धर्म-शिक्षा" का समुचित आदर करेगा।

"मनोरमा" फरवरी १९२९

नारीधर्म शिक्षा पर साप्ताहिक प्रताप की सम्मति—

नारी धर्म शिक्षा—लेखिका श्रीमती मनव्रता देवी। प्रकाशक श्री एस० बी० सिंह एन्ड को० बनारस सिटी। पृष्ठ-संख्या १६२, मू० १।)

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। इसमें बाल-शिक्षा, गृहकार्य, दिन-चर्या, घरवालों के साथ बर्ताव, सन्तान-पालन, रोग-चिकित्सा, भोजन-निर्माण-विधि आदि विषयों पर संक्षेप में ७ अध्यायों में विचार किया गया है। पुस्तक स्त्रियों के काम की है और साधारण पढ़ी-लिखी स्त्रियों को इससे बहुत कुछ जानकारी हो सकती है। साप्ताहिक प्रताप

दूसरी बार **कुत्सित जीवन** छप गया

लेखक—महात्मा गान्धी

यह पुस्तक अपने विषय में अद्वितीय है इसका प्रमाण यही है कि यह संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गान्धी द्वारा लिखी गई है। मानव जाति को नैतिक-जीवन देनेवाली यह पुस्तक बड़ी ही सुन्दर है। इसमें उन्होंने यह भलीभाँति अंकित किया है कि आत्म-संयम ही जीवन का धर्म है। नर और नारी के बीच का स्वाभाविक संबंध वह है जो भाई-बहन माँ और बेटे तथा बाप एवं बेटी में होती है। पति और पत्नी में भी काम का आकर्षण अस्वाभाविक और अप्राकृतिक है। विवाह का उद्देश्य दम्पति के हृदयों के विकारों को दूर कर उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है। सचित्र पुस्तक का मूल्य ॥।)

योगिराज अरविन्द को कौन नहीं जानता ?

यह दोनों पुस्तकें उन्हींके कर-कमलों द्वारा लिखित हैं।

धर्म और जातीयता

धर्म, जाति और राजनीति पर बड़े ही भव्य विचार प्रगट किए गए हैं। दार्शनिक जगत में इस पुस्तक का विशेष आदर हुआ है।

तीसरा संस्करण हो रहा है मू० १)

अरविन्द मन्दिर में

(लेखक—योगिराज म० अरविन्द घोष)

इस पुस्तक में योगिराज ने हर तरह के साधकों के लिये साधन की विधि बतलाई है, भारत के साथ ही समूचे संसार का भविष्य बतलाया है, अपनी अवस्था का दिग्दर्शन कराया है, यौगिक बल से ईश्वरीय प्रेरणा का अनुभव करके देश के कल्याण के लिये योगियों की आवश्यकता दिखलाई है, राजनीतिक कार्यकर्ताओं की त्रुटियाँ दिखलाई हैं, राजनीति में भारत के प्रति ईश्वर का संदेश सुनाया है। योगिराज की यह मौलिक रचना है, मू० सिर्फ ॥।)

माखन मिश्री

बाल-साहित्य की एक अनोखी पुस्तक है बालोपयोगी बहुत सी बातें इस पुस्तक में बड़ी योग्यता के साथ सरल भाषा में लिखा गया है। इस पुस्तक में बच्चों के लिए दिलचस्प मनोहर कहानियाँ, पहेली, बुझौवल, हँसी के चुटकले, अक्षर-ज्ञान, आदर्श जीवनियाँ, बच्चों की तुकबन्दी, आदि अनेकों चटपटे मसाले हैं। जिसको कि बच्चे पढ़ते-पढ़ते और हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायँगे। पुस्तक क्या है मानों हँसी का खजाना है। सुन्दर रंग-बिरंगी छपाई और अनेकों चित्रों ने तो इसकी शोभा और बढ़ा दी है। बच्चे एक बार हाथ में लेकर पूरी पढ़े बिना नहीं छोड़ेंगे।

जैसे बच्चे उसे पढ़कर हसेंगे वैसे ही अनेकों तरह की शिक्षा ग्रहण करेंगे। यह पुस्तक ५ वर्ष से लेकर १५ वर्ष की अवस्था के बालकों और बालिकाओं के पढ़ने योग्य है। इसकी पृष्ठ संख्या लगभग १५० के है। मूल्य केवल बारह आना ।||)

उच्च कोटि के उपन्यास

१—नर-पशु—संसार विख्यात रूसी क्रांतिकारी मैक्सिम गोर्की का अत्यन्त सुन्दर और रोचक उपन्यास, इसे पढ़कर आपकी नस-नस में बिजली दौड़ने लगेगी। मू० १)

२—पेरिस का कुबड़ा—फ्रेन्च साहित्य के अमर लेखक विक्टर ह्यूगो का लिखा हुआ भाव-पूर्ण उपन्यास। पेरिस न्यायालय, शराबखाना, जेलखाना, सराय, साँसत घर, फाँसी घर, बेंतबाजी, जज, पादरी, वकील, कप्तान आदि का वर्णन अद्भुत किया गया है। पढ़कर देखिये—२)

वे तीनों—मैक्सिम गोर्की का शिक्षा-प्रद रूसी उपन्यास। २)

कहानियों की अनमोल पुस्तकें

१-भूली-बात — पं० विनोद शङ्कर व्यास की लिखी हुई, सुख-दुख से भरी प्रेम कहानियाँ। मूल्य १)

२—धूप-दीप — व्यासजी की लिखी हुई राजनैतिक कहानियाँ। स्वराज्य कब मिलेगा? कहानी पढ़कर आप मुग्ध हो जायँगे। पुस्तक मनोहारिणी है। मू० ॥।)

हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ—इस अनोखे संग्रह में आप हिन्दी के १३ कलाकारों की १३ श्रेष्ठ कहानियाँ पढ़ेंगे। प्रेमचन्द जी प्रसाद जी, उग्र जी आदि सभी प्रसिद्ध लेखकों की कहानियाँ इसमें हैं। इसके संग्रह-कर्त्ता भारत-संपादक पं० नन्ददुलारे जी बाजपेयी एम० ए० हैं। मूल्य केवल १॥) सस्ता संस्करण।

एक-घूंट — हिन्दी के स्वनामधन्य नाटककार श्रीमान् प्रसाद जी की एकांकी नाटिका ॥)

आँधी—हिन्दी के यशस्वी कहानी-लेखक 'प्रसाद' जी की सरस-भावपूर्ण ११ कहानियों का अमूल्य संग्रह २)

काम-दर्शन

काम-शास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ।

यह पुस्तक प्रत्येक घर में रखने योग्य है। काम सम्बन्धी घासलेटी वर्णन इसमें नहीं है बल्कि काम-शास्त्र का यथार्थ ज्ञान भण्डार इसमें है। इसकी भूमिका भी बाबूराव विष्णु पराड़कर (आज-सम्पादक) ने लिखी है। सजिल्द, सचित्र, मोटे कागज पर सुन्दर छपाई। मूल्य ३)

शिक्षाप्रद उत्तमोत्तम उपन्यास और कहानियाँ!

मेरी हजामत—हास्य-रस की अद्वितीय और संग्रहणीय पुस्तक! रोते को हँसाने की कुंजी। मूल्य ॥=)

मगनरङ्ग चोला—यह पुस्तक हँसते हँसते लोट पोट कर देने का दावा रखती है। मूल्य ।॥)

महाकवि चच्चा—यह एकदम नई पुस्तक है। अभी प्रकाशित हुई है। हास्य-रस की अनूठी और निराली पुस्तक है। मूल्य १)

मीना बाजार—सामाजिक और राजनैतिक मनोहारिणी रह कहानियों का अपूर्व संग्रह है। मूल्य १)

विनोदशंकर व्यास की ४१ कहानियाँ–मूल्य २)

कवितावली—यह कवितावली की सर्वोत्तम टीका है। इसके तृतीय संस्करण में ८० पृष्ठ की सुंदर भूमिका लगाकर इसे अत्यधिक सुंदर बना दिया गया है। परीक्षार्थियों के लाभार्थ प्रत्येक छंद के नाम, लक्षण, अलंकार एवं शब्दों के शुद्ध रूप भी दिए गए हैं। ३०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल १।)

भूषण ग्रंथावली—का सर्वश्रेष्ठ संस्करण है इसमें १२५ पृष्ठ की सुंदर भूमिका है जिसमें अलंकार-शास्त्र, वीर काव्य तथा भूषण की कविता एवं भाषा का विशद विवेचन किया गया है अंत में २२५ पृष्ठ की विस्तृत टिप्पणी तथा ऐतिहासिक स्थानों का मानचित्र देकर पुस्तक को सर्वरूपेण उपयोगी बना दिया गया है। ५०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल २)

विनय पत्रिका (सटीक)—इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि यह टीका श्रीयुत लाला भगवानदीनजी द्वारा लिखी गई है। टीका इतनी सरल एवं सुबोध है कि तुलसीदासजी के कठिन से कठिन पद का अर्थ साधारण श्रेणी का विद्यार्थी भी समझ सकता है। ५०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल १॥)

माँ का हृदय—मैक्सिम गोर्की लिखित रूस की क्रांति का जीता जागता, हृदय कँपा देनेवाला, रोमांचकारी सच्चा चित्रण। पृष्ठ संख्या ...०० मूल्य २॥)

स्वास्थ्य सम्बन्धी उत्तमोत्तम पुस्तकें !

आरोग्य-मंदिर—नया संस्करण, स्वास्थ्य सम्बन्धी चुने हु विद्वानों के लेखों का संग्रह। मूल्य २)

आहार-विज्ञान—आहार सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी करा वाला विद्वानों द्वारा प्रसंशित एक मात्र ग्रंथरत्न। मूल्य २)

सफलता का रहस्य—जीवन में सफलता प्राप्त कराने वं लिए इसे अवश्य पढ़िए। मूल्य १)

जीवन रक्षा—बालकों का जीवन सुधारने एवं उन्हें सदाचारं बनाने के लिए इस पुस्तक का पढ़ाना आवश्यक है। मूल्य ॥)

प्रेमचन्द के चुने हुए उपन्यास एवं गल्पें

गल्प-समुच्चय—हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गल्प-लेखकों की कहा नियों का इतना सुन्दर संग्रह श्रीप्रेमचन्दजी ने इसमें किया है वि पढ़कर तबीयत खुश हो जाती है। २॥

प्रेम-द्वादशी—प्रेमचन्दजी की सुन्दर १२ कहानियों का अनूठा संग्रह। यह भी कई जगह कोर्स में है। ॥

प्रेम-तीर्थ—प्रेमचन्दजी की कहानियों का एक उत्तम संग्रह, सुन्दर छपाई साफई। १॥)

प्रतिज्ञा—प्रेमचन्दजी का छोटा; परन्तु बहुत ही दिलचस्प सामाजिक उपन्यास। १॥)

ग़बन—प्रेमचन्दजी का बिलकुल नया और श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास। ३)

कर्म-भूमि—प्रेमचन्द का नया उपन्यास ३)

वृक्ष-विज्ञान—इसमें सभी बड़े-बड़े वृक्षों के फूल, जड़, छाल, रस तथा फल वगैरः के विषय में बताया गया है कि इनसे कौन-कौन से रोग दूर होते हैं। सबके नुस्खे भी दे दिये हैं। १॥)

कुछ चुनी हुई पुस्तकें

आर्य-सामाजिक पुस्तकें

आर्य समाज क्या है ?	।–)
आर्य-पथिक (लेखराम)	१)
आर्याभिविनय	।–), ॥=)
ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका	१॥=)
कल्याण-मार्ग का पथिक	१॥)
चित्रमय दयानंद	१।)
भजनों की पुस्तकें	–)
स्वामी दयानन्दकी जीवनी	१॥)
दयानंद ग्रन्थावली	३॥),४॥)५॥)
विधवा-विवाह	१॥)
शिवपुराण की आलोचना	१।)
शुद्धि-शास्त्र	॥=)
सत्यार्थप्रकाश (वै०पु०)	।॥)
संस्कार चंद्रिका	३॥)
संस्कार प्रकाश	१॥)
संस्कार विधि (वै० पु०)	।=)
वैदिक संध्या और भजन	–)

बालकोपयोगी पुस्तकें

पोत की माला	॥≈)
माखन मिश्री	।॥)
बाल-मनुस्मृति	॥=)
बाल-रामायण	॥=)
बाल-पत्र-बोधिनी	॥)
भाषा-पत्र-बोध	≶)
छत्रपति शिवाजी	।॥)
फुलझड़ी	॥)
चन्दा मामा	।=)
सियार पंडित	।)॥
ज्ञान की पिटारी	१)
मस्तराम	।–)
हँसी के चुटकले	।–)
सोने की परी	।–)
पकौड़ी वाली	।)

स्त्री-पुरुषों के पढ़ने योग्य

मन्दिर-प्रवेश	।)
चुम्बन मीमांसा	१)
गढ़-कुण्डार	२॥)
कुण्डली चक्र	१।)
कोतवाल की करामात	१)
अनोखा जासूस	२)
वीर पत्नी	२)
जब सूर्योदय होगा	१)
बाबू साहब	२॥)
समाधि	१।)
वर्तमान रूस	१॥)
मीठी चुटकी	१।)
त्यागमयी	१)
यौवन सौन्दर्य और प्रेम	१।)